स्वाध्यायमञ्जरी का पंचम पुष्प

वैदिक-विनय

(तृतीय खण्ड)

ले०—'अभय' विद्यालङ्कार

संवत् १९९० की भेंट

स्वाध्यायमञ्जरी का पंचम पुष्प

वैदिक-विनय

(तृतीय खण्ड)

लेखक—

पं० देवशर्मा 'अभय' विद्यालङ्कार

श्रद्धानन्द-स्मारक-निधि के सभासदों की सेवा मे

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी की ओर से

संवत् १९९० के लिए सप्रेम भेंट

खरीदनेवाले सज्जनों के लिए—

सजिल्द सवा रुपया] [सादी एक रुपया

प्रकाशक—
श्री पंडित चमूपतिजी
मुख्याधिष्ठाता
गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी
हरिद्वार (सहारनपुर)

प्रथम संस्करण—२२००
संवत् १९९०

मुद्रक—
श्री देवचन्द्र विशारद
हिन्दी भवन प्रेस
लाहौर

श्रद्धानन्द-स्मारक-निधि
के
सदस्यों की सेवा में

प्रिय महोदय,

गुरुकुल की ओर से संवत् १९९० की यह भेंट आपके सामने प्रस्तुत है। आप इसे स्वीकार कीजिये।

इस भेंट द्वारा 'वैदिक-विनय' का यह तीसरा खण्ड आपके हाथों में पहुँच रहा है। इस खण्ड के साथ 'वैदिक-विनय' पुस्तक पूर्ण हो जाती है। अब आप बारहों महीने इसका स्वाध्याय करते हुवे प्रतिदिन नये नये वेदमंत्र द्वारा ईश-विनय कर सकते हैं।

आशा है आप वैदिक रत्नों की इस अमूल्य भेंट को स्वीकार करेंगे, इसके महत्त्व को अनुभव करते हुवे इसे स्वीकार करेंगे और इसके द्वारा प्रति दिन वेद का स्वाध्याय करते हुवे इस भेंट को सार्थक कर सकेंगे।

आपका

मुख्याधिष्ठाता

गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी

विषय-सूची

आवश्यक निवेदन

यह वैदिक-विनय पुस्तक का तृतीय खण्ड है। इस पुस्तक की जो भूमिका है, जो कुछ इस पुस्तक को पढ़ने से पहिले आवश्यक तौर पर जान लेना चाहिये, वह सब प्रथम खण्ड में 'प्रारंभिक वचन' शीर्षक से बाईस पृष्ठों में लिखा जा चुका है। उसे यहां फिर दोहराना ठीक नहीं लगता, और उसका सारांश संक्षेप भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि वहां जो कुछ लिखा गया है वह सभी आवश्यक है। इसलिये इस तृतीय खण्ड के पाठकों की सेवा में मुझे जो कुछ आवश्यक निवेदन करना है वह यही है कि पाठक गण इस पुस्तक के प्रथम खण्ड में लिखी

भूमिका को अवश्य अवश्य पढ़ें, उसे बिना पढ़े वे इस पुस्तक का कुछ भी न समझ सकेंगे। २२ पृष्ठों में लिखी गयी उस खण्ड की उस भूमिका में जो जो बातें लिखी गयी हैं उन्हें पाठकों की जानकारी के लिये यहां केवल गिनाया जा सकता है। वे बातें निम्नलिखित हैं—

(१) इस पुस्तक का निबन्ध क्रम क्या है ? यह पुस्तक किन परिस्थितियों में और कैसी तैय्यारी करके लिखी गयी है ?

(२) इस पुस्तक का स्वाध्याय किस विधि से करना चाहिये ?

स्वाध्याय-विधि में पांच आवश्यक बातें बतायी गयी हैं।

(३) मंत्रों के छन्दों का क्रम क्या है और क्यों है ?

(४) इस पुस्तक की दैनंदिनी सौर वर्ष की क्यों रखी गयी है ?

(५) प्रत्येक ऋतु के प्रारंभ में जो ऋतुचर्या लिखी गयी है उसके समझने के, अमल करने के लिये सामान्य बातें कौन सी हैं ?

(६) हर महीने की जो एक प्राणदायक व्यायाम लिखी गई है वह किन सिद्धान्तों के आधार पर रची गई है ? इन व्यायामों से लाभ उठाने के लिये किन आवश्यक बातों का ज़रूर ध्यान रखना चाहिये और क्यों ?

कृष्ण भवन, लाहौर
९-१२-१९९०

स्वाध्याय-शील जनों का सेवक—
'अभय'

हेमन्त ऋतु

(पंक्ति छन्द)

हेमन्त की ऋतुचर्या

लक्षण—शीत का प्रारम्भ करने वाली शरद् ऋतु के समाप्त हो जाने पर जिन महीनों में शीत अपने पूरे वेग से पड़ने लगता है, उस ऋतु का नाम हेमन्त है। इसमें अधिक से अधिक शीत पड़ता है तथा हिम (बर्फ़), पाला तक जम जाता है। हेमन्त ऋतु के मार्ग-शीर्ष और पौष ये दो महीने होते हैं। दूसरों के मत में पौष और माघ इसके महीने होते हैं। माघ के कुछ दिन तो प्रायः हेमन्त के ऋतु-काल से युक्त हुवा ही करते हैं।

महिमा—शारीरिक पुष्टि पाने के लिए यह ऋतु सर्वश्रेष्ठ है। कृष्ण भगवान् ने *"मासानां मार्गशीर्षोऽहम्"* कह कर मार्गशीर्ष के महीने को सर्वश्रेष्ठ महीना कहा है। इस ऋतु मे मस्तिष्क का काम तथा शारीरिक परिश्रम भी बिना थके अधिक से अधिक किया जा सकता है। इसमें वात, पित्त और कफ प्रायः समावस्था में रहते हैं तथा शारीरिक बल और पाचनाग्नि प्रबल अवस्था में होते हैं। इस समय विसर्गकाल अपने पूर्ण यौवन में होता है अर्थात् इस समय दक्षिणायन सूर्य मनुष्यों के लिए रस का विसर्जन करते हैं, प्राणियों के शरीरों में वृद्धि, पुष्टि, बल आदि का दान करते हैं।

गुण—यह ऋतु शीत, स्निग्ध तथा पदार्थों में स्वादुता उत्पन्न करने वाली है। यह प्राणियों की जाठराग्नि को बढ़ाती है।

पथ्यापथ्य—इस ऋतु में धूप का खूब सेवन करना चाहिए। इस ऋतु में शारीरिक बल तथा पाचकाग्नि प्रबल होते हैं अतः इसमें अतिस्निग्ध, गुरु, पौष्टिक पदार्थ जैसे दूध, मक्खन, तेल, गुड़ आदि का तथा ऋतु के गर्म स्निग्ध पदार्थ जैसे बाजरा, सरसों, गाजर आदि का भी सेवन करना चाहिए। ऊनी व रुई के कपड़े पहिनने चाहियें। व्यायाम भी खूब अच्छी तरह करना चाहिये।

कहावत के अनुसार मार्गशीर्ष में ज़ीरा तथा पौष में धनिया खाना मना है।

* *

*

मार्गशीर्ष मास

मार्गशीर्ष (वृश्चिक)

के लिये

प्राणदायक व्यायाम

कूल्हे और जांघों की स्वस्थता करने वाला

इस व्यायाम के लिए भूमि पर पीठ के बल पूरे पैर पसार कर अच्छी तरह लेट जाइये और लेट कर अपने हाथों को स्वस्तिकाकार में (पलौथी की तरह एक दूसरे के ऊपर) छाती पर रख लीजिए। अब घुटनों को ज़रा भी न मुड़ने देते हुवे और पैरों व एड़ियों को भूमि से न उठने देते हुवे, अपने सिर को धीरे धीरे १८", २०" इंच ऊपर उठाइये। फिर उसी तरह सिर को धीरे-धीरे नीचे लाइये। इस तरह ७, ८ वार कीजिये, जब सिर ऊपर उठा रहे हों तो पेट तक पहुँचने वाला गहरा दीर्घ श्वास लीजिये और जब नीचे ले जा रहे हों तो श्वास बाहर निकालिये।

(२)

उसी तरह लेट जाइये। हाथों को सिर के नीचे तकिया बनाते हुवे रख लीजिये। अब धड़ को बिलकुल न हिलने देते हुवे और टांगों को घुटने पर न मुड़ने देते हुवे, कटिप्रदेश को चूल बना कर टांगों को धीरे २ इतना ऊपर लाइये कि उनका धड़ के साथ समकोण बन जाय। फिर टांगें नीचे ला कर पूर्ववत् हो जाइये। इस प्रकार वार वार कीजिये। जब टांगे ऊपर ले जा रहे हों तो अन्दर श्वास लीजिये और जब नीचे ले जा रहे हों तो बाहर श्वास छोड़िये।

इस व्यायाम को करते हुवे अपना मन कूल्हों और जांघों पर केन्द्रित कीजिये। इनकी स्वस्थता की भावना कीजिये।

ध्यान—"मैं बलवान् हो रहा हूँ, मेरा सारा शरीर प्राण संचार से विद्युन्मय और पूर्ण स्वस्थ हो रहा है। मैं बलस्वरूप हूँ..........." इत्यादि प्रकार से ध्यान कीजिये।

इन अंगों को गौणतया ज्येष्ठ, भाद्रपद और फाल्गुण की व्यायामों से भी लाभ पहुँचता है।

*

* *

उदीर्ध्वं जीवो असु र्न आगात्, अप प्रागात्तम आ ज्योतिरेति।
आरैक् पन्थां यातवे सूर्याय, अगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः॥

ऋ० १.१३१.१६॥

विनय

उठो उठो हे मनुष्यो! उठो, जागो, देखो यह प्रभात हो रहा है, अन्धकार को चीर कर उषा की किरणें निकल रही हैं। हमें जीवन प्रदान करती हुई, हम में नवप्राण का संचार करती हुई यह दिव्य ज्योति उदय हो रही है। इस ज्योति के पाने के लिए जागो। भाइयो! अनुभव करो कि हमारे जीवन में आज फिर एक नवप्रभात हुआ है। अब तक हम अन्धेरे में थे, एक निष्प्राण और जीवनहीन 'जीवन' बिता रहे थे। इस ज्योति का पवित्र संस्पर्श हम में आज जो नया चैतन्य

उदीर्ध्वं जीवो असु र्न आगात , अप प्रागात्तम आ ज्योतिरेति ।

उत्पन्न कर रहा है वह हमारे लिये अननुभूतपूर्व है । ओह, इस ज्योति ने तो उस परम ज्योति सूर्य का मार्ग भी खोल दिया है, इस आत्म ज्योति ने उदित होकर परमात्म ज्योति तक पहुँचने का रास्ता भी साफ़ कर दिया है । हम अब उस अवस्था में पहुंच गये हैं जहां वृद्धि ही वृद्धि है, जहां क्षय व ह्रास होने का डर नहीं रहा है । इस आत्मप्रकाश में वे जीवन-शक्तियां हैं जिन्हें पाकर अब हम दिनों दिन उन्नत होते जायेंगे; बढ़ते, विकसित होते जायेंगे । हमारा जीवन, हमारा ज्ञान, हमारा मनुष्यत्व, हमारे सब गुण आगे आगे बढ़ते ही जायेंगे । यह जीवन की ज्योति इस नवप्रभात के आगे उत्तरोत्तर बढ़ती जायेगी । इसलिये उठो, इस आत्मप्रकाश को देखो, यह देखो उषा देवी नव जीवन का संदेश लाती हुई हमें जगा रही है ।

शब्दार्थ—

हे मनुष्यो ! (उदीर्ध्वं) उठो, (नः) हमारे लिये (जीवः) जीवन (असुः) प्राण (आगात्) आ गया है, उदय हो गया है । (तमः) अन्धकार (अप प्रागात्) हट गया है और [यह देखो] (ज्योतिः) उषा की ज्योति (आ एति) आ रही है । इस ज्योति ने (सूर्याय) सूर्य के (पन्थां) मार्ग को (यातवे) चलने, पहुँचने के लिये (अरैक्) खोल दिया है, (यत्र) जहां [जीवनशक्तियां] (आयुः) जीवन को (प्रतिरन्त) बढ़ाती ही हैं [उस अवस्था में हम] (आ अगन्म) पहुँच गये हैं ।

२ मार्गशीर्ष

ये त्वा देवोस्निकं मन्यमानाः पापा भद्रमुपजीवन्ति पज्राः।
न दूढ्ये अनुददासि वामं बृहस्पते चयस इत् पियारुम्॥

ऋ १. १९०. ५।

विनय

हे देव ! दुर्बुद्धि लोग तेरे दिये भोगों को ऐसे अन्धे हो कर भोगते जाते हैं कि वे और कुछ नहीं देखते। इस जगत् में जो तूने अपनी नानाविध भोग्यवस्तु रूपी गौएँ दे रक्खी हैं उन से वे यथेच्छ भोगरूपी दूध दुहते जाते हैं, पर अपना और कुछ कर्त्तव्य नहीं समझते। वे तुझे भोला समझते हैं। तुझे ऐसा भोला भोगदाता समझते हैं जिसके कि भोगों को यूँ हीं लूट लिया जा सकता है। वे मूर्ख भोगप्राप्ति के रहस्य को नहीं समझते, भोग और यज्ञ किसी अविच्छेद्य बन्धन से जुड़े हुवे हैं यह नहीं समझते। वे नहीं देखते कि हमारे भोग भोगने से प्रकृति में जो क्षति आ जाती है उसे यदि हम यज्ञ द्वारा न पूरा करते रहेंगे तो हमारी भोगप्राप्ति की जड़ ही कट जाएगी। अतः वे यज्ञार्थ कर्म कुछ भी न करते हुवे केवल भोग भोगना चाहते हैं। यही पाप है। सूक्ष्मता से देखें तो सब पाप के मूल में जो भावना रहती है वह यही है। इस पापभावना से युक्त होकर, पापी हो कर वे तुझ भद्र के

आश्रय से जीना चाहते हैं। मानों तेरी भलमनसाहत का लाभ (?) उठा कर वे पापी हो कर भी तेरी भद्रता पर अपने को पुष्ट करना चाहते हैं। वे कुछ समय तक इस तरह तेरा उपजीवन करते भी हैं। पर विना यज्ञ के भोग कब तक मिल सकता है, बिना भोज्यप्रदान आदि सेवा किए गौ से दूध कब तक मिल सकता है? अतः तू आगे के लिए ऐसे दुर्बुद्धि को अपना उत्तम ऐश्वर्य देना बन्द कर देता है, नहीं देता है। बल्कि उस हिंसक का तू विनाश ही कर देता है। भोग्यग्रस्त पुरुष को जब तेरे सच्चे विधान से भोगप्राप्ति में बाधा पड़ने लगती है तो वह क्रुद्ध होता है और नानाविध घोर हिंसायें कर के भी भोग पाना चाहता है। उस समय हे बृहस्पते! तू उसका नाश कर देता है। यदि तू ऐसा न करे तो इस बृहत् जगत् का पालन न कर सके, तू बृहस्पति न रह सके। ऐसे ही अटल न्याय विधान द्वारा तू अपने इस बृहत् ब्रह्माण्ड का पालन कर रहा है।

शब्दार्थ—

(देव) हे देव (ये) जो (त्वा उस्रिकं मन्यमानाः) तुझे केवल भोगों का स्रावक या गौओं वाला ही समझते हुवे (पज्राः) [भोग्य वस्तुओं को] प्राप्त करने वाले, [ऐश्वर्यों का] प्रार्जन करने वाले (पापाः) पापी लोग (भद्रं उपजीवन्ति) तुझ भद्र का उपजीवन करते हैं, तुझ सुखदाता पर जीवित रहते हैं, ऐसे (दूढ्ये) दुर्बुद्धि पुरुष [पुरुषों] के लिए (बृहस्पते) हे इस बृहत् जगत् के पालक देव! तू (वामं) श्रेष्ठ ऐश्वर्य को (न अनुददासि) नहीं देता है बल्कि (पियारुं) उस हिंसक को तू (चयसे इत्) विनष्ट ही कर देता है

३ मार्गशीर्ष

यस्मै त्वं सुद्रविणो ददाशो अनागास्त्वमदिते सर्वताता।
यं भद्रेण शवसा चोदयासि प्रजावता राधसा ते स्याम।
ऋ० १.९४.१५॥

विनय

हे प्रभो! हम तेरे ही हो जायें। हम चाहते हैं कि हम अपने न रहें, तेरे हो जायें। तेरे होने से हम तर जायँगे। परन्तु तेरे हो जाने वाले वे सौभाग्यशाली पुरुष होते हैं जिनके लिये तू 'निरपराधत्व' का वर प्रदान कर देता है। ऐसे पुरुष नाना प्रकार के कार्य किया करते हैं किन्तु उनके सब कर्म विस्तार में तुम्हारी कृपा से सदा निर्दोषता रहती है। हे अखण्ड! हे पूर्ण अग्ने! तेरे सहारे किये गये कर्मों में अपूर्णता दोष, त्रुटि कैसे रह सकती है? तू अदिति है, तुझ में दिति, खण्डता व बन्धन नहीं है। अतः तेरे हो चुके, तेरे अनन्य उपासक के कर्म भी खण्डित व दोषयुक्त क्यों होंगे? तेरे ऐसे भक्तों के भयंकर से भयंकर दीखने वाले कर्म भी निर्दोष व उचित ही होते हैं। धन्य धन्य हैं वे तेरी कृपा पाने वाली विशुद्ध आत्मायें जिनके कि सब कर्म-प्रवाह में, हे सुद्रविण!

हे शुद्ध बल व धन वाले ! तुम ऐसी निष्पापता प्रदान करते हो। हम देखते हैं कि इससे उनका भी बल (शवस्) और धन (राधस्) असाधारण प्रकार का हो जाता है। उनका बल सदा 'भद्र' होता है और उनका धन 'प्रजावान्' होता है। उनमें तू जिस प्रकार के बल की प्रेरणा करता है वह बल भद्र होता है, कल्याण के लिये होता है। वह दुर्बलों के सताने व आत्म-हनन में लगने वाला अभद्र बल नहीं होता, किन्तु आत्मोन्नति कराने में, दुःखितों पीड़ितों की रक्षा में निरन्तर लगने वाला बल होता है। एवं उनका धन ऐश्वर्य 'प्रजावान्' होता है, प्रज-नन करने वाला उत्पादक होता है। अनुत्पादक धन नहीं होता। उनका ऐश्वर्य कुछ भी सृजन न करने वाला नहीं होता, अपितु सदैव उत्तरोत्तर उत्तम उत्तम परिणाम लाने वाला होता है। ओह ! ऐसे धन के साथ, ऐसे बल के साथ हम तेरे हो जायें, हे अदिते ! निष्पाप होकर हम तेरे हो जायें।

शब्दार्थ—

(अदिते) हे अखण्ड स्वरूप अग्ने ! (त्वं) तुम (यस्मै) जिस पुरुष के लिये (सर्वताता) उसके सब कर्म विस्तार में, सब कर्मों में (अनागस्त्वं) निरपराधता, निर्दोषता (ददाशः) प्रदान करते हो और अतएव (यं) जिस पुरुष को तुम (सुद्रविणः) हे सुन्दर बल व धन वाले ! (भद्रेण शवसा) कल्याणकारक बल से तथा (प्रजावता राधसा) उत्पादक धन से (चोदयासि) प्रेरित करते हो, अनुप्राणित करते हो वैसे होते हुवे हम (ते) तेरे (स्याम) हो जावें।

*

* *

४ मार्गशीर्ष

नकीरेवन्तं सख्याय विन्दसे, पीयन्ति ते सुराश्वः ।
यदा कृणोषि नदनुं समूहसि, आदित्पितेव हूयसे ॥

ऋक्० ८.२१.१४॥ सा० उ० ६.२.४॥ अथ० २०.११४.२॥

विनय

हे इन्द्र ! साधारणतया संसार के धनिक पुरुष तेरे सख्य के योग्य नहीं होते। क्योंकि वे हिंसक होते हैं। धन में ऐसा मद (नशा) होता है कि उससे मदोन्मत्त हुआ पुरुष किसी कर्त्तव्याकर्त्तव्य को नहीं देखता। धन का संग्रह ही बिना हिंसा के कहां होता है ? जगत् में विरले ही धनसमृद्ध पुरुष होंगे जिन्हों ने कि दूसरों को बिना सताये धन प्राप्त किया हो। क्या हम नहीं देखते कि ऐश्वर्य की मदिरा से मस्त हुवे, धन-शक्ति को सर्वोपरि समझते हुबे आज संसार के धनाढ्य लोग निःशंक हो कर गरीबों को सता रहे हैं, करुणापात्रों पर ही नहीं किन्तु सम्मानपात्रों पर भी बेखटके जुल्म कर रहे हैं ? तो हम हिंसक पुरुषों को तेरे दर्शन कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? इसलिये धनसमृद्धों में से तुझे अपने सख्य के लिये लोग नहीं

मिलते हैं। वे तेरे नजदीकी नहीं हो पाते हैं। जो तेरे सखा होते हैं, बल्कि तेरे पुत्र बनते हैं वे दूसरे प्रकार के ही लोग होते हैं। जो धनत्याग करने वाले तपस्वी, मदरहित शान्त पुरुष और प्रेम करने वाले अहिंसक होते हैं, वे ही तुझे पहिचान सकते हैं और पहिचानते हैं। वे जब तेरी महिमा का अनुभव कर तेरे स्तोता भक्त बन जाते हैं और विशेषतः जब तू उन्हें सम्यक्तया वहन करता है, उनका पालन पोषण करने वाला तू है ऐसा वे देखने लगते हैं, तभी वे तुझे 'पिता पिता' करके पुकारने लगते हैं। वे तेरे प्यारे पुत्र बन जाते हैं। इसलिये हे इन्द्र! धनों द्वारा हम तुझे नहीं पा सकते हैं, तुझे पाने के लिये तो हमें धन का, कम से कम धन के मोह का त्याग करना पड़ेगा, क्योंकि तभी हम उस 'नदनु' अवस्था को पा सकेंगे जहां पहुँच कर भक्त लोग तुझे 'पिता पिता' कह कर पुकारने लगते हैं और तेरे वात्सल्य में पलने वाले तेरे प्यारे पुत्र बन जाते हैं।

शब्दार्थ—

हे इन्द्र! (रेवन्तं) धन वाले पुरुष को (नकिः) तू कभी नहीं (सख्याय) सख्य के लिये,सखाभाव के लिये (विन्दसे) पाता है, क्योंकि (ते) वे (सुराश्वः) ऐश्वर्य समृद्ध, धनमत्त पुरुष (पीयन्ति) हिंसन करते हैं। (यदा) जब तू किसी को (नदनुं) स्तोता, भक्त (कृणोषि) बनाता है (सं ऊहसि) और उसे सम्यक् प्रकार से वहन करता है (आत् इत्) तब ही [उस द्वारा तू] (पिता इव) पिता की तरह (हूयसे) पुकारा जाता है।

*

* *

५ मार्गशीर्ष

अपाङ् प्राङ् एति स्वधया गृभीतः, अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता, न्यन्यं चिक्यु र्ननिचिक्युरन्यम्॥

ऋ० १. १६४. ३८. अथर्व ९. १०. १६

विनय

एक ही घर में दो मित्र रहते हैं। उनमें से लोग एक को जानते देखते हैं, दूसरे को बिलकुल नहीं पहिचानते। इन साथियों में एक न मरने वाला अमर्त्य अमर है और दूसरा मरने वाला मर्त्य है। इतने विरुद्ध उलटे स्वभाव वाले होते हुवे भी ये दोनों आ मिले हैं, न जुदा होने वाले साथी बन गये हैं। इनको इस तरह जोड़ने वाली 'स्वधा' है, अपने में धारण की हुई भोगेच्छा है, अन्न (भोग) की इच्छा है। जब तक यह इच्छा समाप्त व शान्त न होगी तब तक संसार में इन साथियों को कोई जुदा नहीं कर सकता। इस तरह इस भोगेच्छा से, स्वधा से पकड़ा हुआ यह अमर्त्य उस अपने

मर्त्य साथी को साथ लिये, उसके साथ एक शरीर हुवा हुवा फिर रहा है, सुख भोग की तलाश में बुरा अच्छा सब कुछ करता हुवा फिर रहा है। बुरा करने पर उसे विवश होकर नीचे गिरना पड़ता है, नीची योनियों में जाना पड़ता है और अच्छा करने पर ऊपर जाना, उच्च योनि में जाना होता है। इस तरह ये नीचे ऊपर फिरते हैं। किन्तु सदा साथ रहते हैं, सदा एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। दोनों इकट्ठे ही सब स्थानों में फिरते हैं। दोनों ही भोगवश विविध लोकों तक जाते हैं। पर आश्चर्य यह है कि इन दोनों में से लोग एक 'मर्त्य' को ही जानते हैं, जो दूसरा न मरने वाला है उसे देखते तक नहीं। यह कितना आश्चर्य है !

शब्दार्थ—

(अमर्त्यः) न मरने वाला (मर्त्येन) मरने वाले के साथ (सयोनिः) एक घर वाला होकर (स्वधया) अन्नेच्छा से, भोगेच्छा से (गृभीतः) पकड़ा हुवा, कभी (अपाङ् एति) नीचे जाता है और कभी (प्राङ् [एति]) ऊपर आता है (ता) वे दोनों (शश्वन्ता) सदा साथ रहने वाले (विषूचीना) सब जगह फिरने वाले (वियन्ता) विविध लोकों तक पहुंचने वाले हैं। पर इनमें से (अन्यं) एक को, मर्त्य को (निचिक्युः) लोग जानते हैं (अन्यं) दूसरे को (न निचिक्युः) नहीं जानते।

*

* *

६ मार्गशीर्ष

पश्वा न तायुं गुहा चतन्तं नमो युजानं नमो वहन्तम् ।
सजोषा धीराः पदैरनुग्मन्, उप त्वा सीदन् विश्वे यजत्राः ॥
ऋ० १. ६५, १॥

विनय

मैं तुझे कैसे ढूँढूं ? हे मेरे अग्ने ! आत्मन् ! तू मुझ से ही छिप कर न जाने कहां जा बैठा है, किस गहन गुफा में जा छिपा है ? जैसे कि जब कोई चोर किसी के पशु को चुरा ले जाता है और कहीं पहाड़ की गुफा में जा छिपता है तो पशु वाला अपने पशु को घर पर न पाकर ढूँढ़ मचाने लगता है, उसी तरह जब से मुझे पता लगा है कि मेरी 'पशु'—मेरी दर्शन शक्ति, ज्ञान की शक्ति—खो गयी है तब से मैं हे आत्मन्! तुझे ढूँढ़ने लगा हूँ। तब से मैं जानने लगा हूँ कि मेरी वह दर्शन शक्ति तेरे ही साथ चली गई है और अब वह मुझे तुझ से ही मिल सकती है, अन्य कहीं से नहीं। पर हे आत्मन्! मैं तुझे कहां ढूँढूं ? कैसे ढूँढूं ?

कहते हैं कि तू मेरे ही अन्दर मेरी 'हृदय की' कहाने वाली किसी गंभीर गुफा में छिपा पड़ा है, कहते हैं कि तू वहां ही अपने अन्न को, नमस्कार को, पाता है और उसे स्वीकार भी करता रहता है; पर फिर भी तू मुझे दर्शन नहीं देता, मिलता नहीं। जो धीर पुरुष होते हैं, जो लगातार यत्न करते

जाने वाले ज्ञानी पुरुष होते हैं तथा जो परस्पर मिलकर प्रीति और सेवन करने वाले कर्मशील होते हैं वे तुझे पदों द्वारा, तेरे पदचिह्नों द्वारा तुझे खोजने में लग जाते हैं। वे मन्त्रों के पदों से, तेरी प्राप्ति कराने के साधन रूपी अन्य नाना प्रकार के पदों से, तेरा पीछा करते हैं। संसार के दुःख दर्द, भय, पीड़ाओं से जो तेरा संकेत मिलता है उसे वे ध्यान से देखते हैं और प्रतिदिन सुषुप्ति, संध्या, मृत्यु की घटनाओं में जो तेरे पद-चिह्न चमकते हैं, इन्द्रियों में जो तेरे पदचिह्न पड़े हैं, सब ज्ञान में जो तेरे पदचिह्न हैं उनसे तेरा अनुगमन करते हैं। इस प्रकार खोजते खोजते अन्त में ये यजन के अभिलाषी तुझे पा लेते हैं और तब ये यजनशील लोग मिल कर तेरी उपासना 'यजन' करने लगते हैं।

क्या मैं भी कभी, हे मेरे आत्मन्! तुझे पाकर, 'यजत्र' बन कर, तेरी उपासना में बैठ सकूँगा?

शब्दार्थ—

हे अग्ने! (पश्वा) पशु के, दर्शन शक्ति के साथ (तायुं न) चोर की तरह (गुहा चतन्तं) गुहा में, हृदय गुहा में, गये हुवे [छिपे हुवे] और वहां (नमो युजानं) अन्न व नमस्कार से युक्त होते हुवे तथा (नमो वहन्तं) उस अन्न व नमस्कार को धारण करते हुवे तुझको (सजोषाः) मिल कर प्रीति तथा सेवन करने वाले (धीराः) धैर्यशाली ज्ञानी लोग (पदैः) पदचिन्हों, प्राप्ति साधनों द्वारा (अनुग्मन्) पीछा करते हैं, खोजते हैं, और खोज कर वे (विश्वे) सब (यजत्राः) यजन-शील लोग (त्वा) तुझे, तेरी (उपसीदन्) उपासना करते हैं।

*

* *

७ मार्गशीर्ष

अयं कविरकविषु प्रचेता मर्त्तेष्वग्नि रमृतो नि धायि।
स मा नो अत्र जुहुरः सहस्वः सदा त्वे सुमनसः स्याम ॥

ऋ० ७.४.४॥

विनय

हम क्या हैं! यह हम नहीं जानते। हम जिसे हम समझते हैं वह तो केवल बहुत सी विनश्वर वस्तुओं का ढेर है। फिर भी जो हम में ज्ञान, चैतन्य, शक्ति और आनन्द दिखायी देता है वह जिस एक वस्तु के कारण है वही हमारे अन्दर एकमात्र अविनश्वर तत्व है। यह हमारा अग्नि है, आत्मा है, और वही असली हम हैं। इन हमारे देह इन्द्रिय आदि भौतिक जड़ वस्तुओं में वही एकमात्र (प्रचेता) है, चेतन है। इन अकवियों में वह कवि है, इन अक्रान्तदर्शियों में क्रान्तदर्शी है, इन बोल न सकने वालों में बोलने की शक्ति देने वाला है, इन असुन्दर, अकाव्यमय वस्तुओं में सुन्दर काव्यमय है। वही इन विनाशशील, मरने वाले मर्त्य अनग्निओं में एक अविनश्वर अमृत अग्नि है। वही असली हम हैं, आत्मा हैं।

ओह! इसकी उपेक्षा कर जो अब तक हम दिन रात दूसरी जड़ क्षणभंगुर वस्तुओं की सेवा शुश्रूषा करने में लगे

रहे हैं यह हमने कितना अनर्थ किया है ? हे आत्मन् ! आज तुझे पहचान कर हम देखते हैं कि इन्द्रिय मन प्राण आदि में जो बल, तेज, सामर्थ्य दिखायी देता है वह इनमें नहीं है, वह तो सब तुझ में है। इसलिये हे अग्ने ! सहस्वः ! हे बल तेज शक्ति के भण्डार ! तू इस संसार में हमारा कभी विनाश मत कर। हमने अब तक बेशक तुझ अपनी अग्नि को भूल कर बड़ा आत्मघात किया है। पर अब हम कभी ऐसा आत्मघात न करेंगे। हमें अब एकमात्र तेरी ही प्रसन्नता चाहिये। यह सब जग बेशक रूठ जाय, पर हम अब तुझे कभी रूठने न देंगे। हे अन्दर बैठे अन्तरात्मन् ! जब तक हमारे प्रति तुम सुमना हो, चाहे फिर दुनिया हमें निन्दा करें, धिक्कारें हमें कुछ परवाह नहीं। इस सब मर्त्य दुनिया को छोड़ कर हम केवल तुझे प्रसन्न रखेंगे। चूँकि तू ही सब कुछ है, निश्चय से हमारा सब कुछ है।

शब्दार्थ-

(अयं) यह (प्रचेताः अग्निः) चेतन अग्नि (अकविषु कविः) इन अकविओं में कवि होकर (अमर्त्येषु अमृतः) इन मरने वालों में अमृत हो कर (निधायि) निहित है, रखा हुवा है। (सहस्वः) हे बल तेज शक्ति वाले (सः) वह तू (नः) हमें (अत्र) इस संसार में (मा) कभी मत (जुहुरः) विनष्ट कर, किन्तु हम (सदा) सदा (त्वे) तुझ में (सुमनसः) अच्छे मन वाले, प्रसन्नता पाने वाले (स्याम) बने रहें।

८ मार्गशीर्ष

चित्र इद्राजा राजका इदन्यके यके सरस्वती मनु ।
पर्जन्य इव ततनद्धि वृष्ट्या सहस्रमयुता ददत् ॥

ऋ० ८.२१.१८॥

विनय

भाइयो ! इस संसार में 'चित्र' देव ही एक मात्र राजा हैं। ओह, वे 'चित्र' देव, वे परम पूजनीय परमेश्वर, वे महा अद्भुत, बिलक्षण शक्ति जगदीश्वर जोकि अपने अनन्तों-प्रकार के ऐश्वर्यों को इस जगती तल पर अनवरत बरसा रहे हैं वे ही संसार के एक सच्चे राजा हैं। किसी एक प्रकार का थोड़ा बहुत ऐश्वर्य रखने वाले और उसका दान करने वाले, हम लोगों में 'राजा' 'महाराजा' आदि कहलाने वाले, संसार के ये बड़े से बड़े ऐश्वर्यशाली पुरुष भी उनके सामने क्या राजा हैं! ज़रा देखो कि इन्हें उस बरसने वाले महान् ऐश्वर्य में से, हज़ारों लक्षों प्रकार से बरसते इन अनन्त ऐश्वर्य में से कितना अति क्षुद्र अंश ही प्राप्त हुआ है ? 'चित्र' प्रभु की उस ऐश्वर्य वर्षा से, बरसाती नदी की तरह, इस मनुष्य लोक में बह निकलने वाली जो एक समष्टि ऐश्वर्य की अलक्षित 'नदी, सरस्वती, बह रही है उस नदी से अन्यों की अपेक्षा कुछ अधिक ऐश्वर्य-जल पाकर ये दुनियावी राजा 'राजा' बने हैं।

बस, उनका इतना ही ऐश्वर्य है। तो उस बरसाने वाले, ऐसी सहस्रों सरस्वतियों को बहाने वाले, उस अनन्तधनी के सामने ये कितने क्षुद्रातिक्षुद्र हैं !

मैं सोचा करता था कि संसार में जो मुझे नाना प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त हो रहे हैं इनका प्रदाता कौन है। मैं अब तक समझता था कि ज्ञान, तप, बल और धन आदि जो नाना प्रकार के विलक्षण ऐश्वर्य मुझे प्राप्त हुवे हैं उनके प्रदाता वे वे उन उन ऐश्वर्यों के धनी पुरुष ही हैं। परन्तु जब से मुझे इस महान् ऐश्वर्य वृष्टि का अनुभव हुआ है और बरसाने वाले चित्र प्रभु का दर्शन हुवा है तब से मैं उस प्रभु के इस दिव्य महादान के ही स्तुति गीत गाने लगा हूँ। ओह, 'चित्र' ही इस संसार में राजा हैं, 'चित्र' ही एक मात्र इस संसार में सच्चे राजा हैं।

शब्दार्थ—

(चित्रः) वे परम पूजनीय या विलक्षण शक्ति परमेश्वर (इत्) ही एकमात्र (राजा) राजा हैं (अन्यके) अन्य [दुनियावी राजा] तो (राजकाः इत्) क्षुद्र राजे ही हैं (यके) जो कि क्षुद्र राजे (सरस्वतीं) [उसकी मनुष्य लोक में बहायी] समष्टि-ऐश्वर्य की नदी (अनु) द्वारा बने हैं, क्योंकि वही (सहस्रा अयुता) सहस्रों लाखों प्रकार के धनों ऐश्वर्यों को (ददत्) देता हुवा (पर्जन्य इव) मेघ की तरह (वृष्टया) अपनी ऐश्वर्यवृष्टि से (हि) निःसंदेह [इन दुनियावी राजाओं को] (ततनत्) भरता है, ऐश्वर्य जल से पूरित कर बढ़ाता है, बड़ा बनाता है।

*

* *

९ मार्गशीर्ष

न त्वा रासीयाभिशस्तये वसो न पापत्वाय सन्त्य ।
न मे स्तोता अमतीवा न दुर्हितः स्यान्न पापया ॥

ऋ. ८.१९.२६॥

विनय

हे जगत् को बसाने वाले ! वसो ! मैं कभी तुमसे दूसरों के विनाश के लिये प्रार्थना न करूँ, और हे सन्त्य ! हे संभजनीय ! मैं कभी दूसरों के प्रति किसी अन्य पाप के लिये भी तुम्हारा संभजन न करूँ। मैं तुम्हें कभी इस लिये हविः प्रदान न करूँ कि उससे किसी दूसरे की हिंसा हो या कोई अन्य पाप हो। हे बसाने वाले ! तुमसे विनाश की प्रार्थना करना, हे सन्त्य ! तुमसे पाप की चाहना करना, यह कितनी उलटी बात है ! परन्तु हम अज्ञानी लोग मोहवश बहुत बार तुमसे ऐसी प्रार्थनायें भी करते हैं। हम तो मारण उच्चाटन अभिचरण तक में तुमसे सफलता चाहा करते हैं। परन्तु शायद इसी लिये हम संसार में ठगे जाते हैं। हमें ऐसे स्तोता या प्रशंसक

मिलते हैं जो कि अन्दर से हमारा अनिष्ट चाहते हैं पर ऊपर से स्तुति करते हैं। हे अग्ने! मैं तो चाहता हूँ कि मेरी स्तुति कभी कोई मूर्ख पुरुष न करे, मेरे लिये दुर्भाव और अहित रखने वाला कभी मेरा स्तोता व प्रशंसक न बने, पाप-बुद्धि वाला कभी मेरी ख़ुशामद न करे। मैं कैसा हूँ इसकी बड़ी अच्छी पहचान यह है कि मेरे प्रशंसक कैसे हैं। अतः मैं जहाँ यह चाहता हूँ कि नासमझ और दुर्हृदय पुरुषों की स्तुति मुझे कभी प्राप्त न होवे वहाँ मैं आपसे वह बल और ज्ञानप्रकाश भी पाना चाहता हूँ जिससे मैं तुमसे कभी हिंसा व पाप की प्रार्थना न कर सकूँ। हे प्रभो! मैं तुमसे पवित्र ही प्रार्थना करूँ और मुझे मनुष्यों की पवित्र ही स्तुति प्राप्त हो।

शब्दार्थ—

(**वसो**) हे जगत् के बसाने वाले! मैं (**अभिशस्तये**) हिंसन के लिये (**त्वा न रासीय**) कभी तेरी स्तुति प्रार्थना न करूँ, कभी हविप्रदान न करूँ और (**सन्त्य**) हे संभजनीय! (**पापत्वाय**) पापयुक्तता के लिये मैं तेरी कभी प्रार्थना न करूँ, हविप्रदान न करूँ। और (**अग्ने**) हे अग्ने! (**मे स्तोता**) मेरा प्रशंसक कभी (**अमतीवा**) निर्बुद्धि मूर्ख पुरुष (**न स्यात्**) न होवे, (**दुर्हितः**) दुष्कामना रखने वाला पुरुष (**न**) न होवे और (**पापया**) पाप बुद्धि से [युक्त पुरुष भी] (**न**) न होवे।

* *

*

१० मार्गशीर्ष

हस्ते दधानो नृम्णा विश्वानि, अमे देवान्धात् गुहा निषीदन् ।
विदन्तीमत्र नरो धियन्धा, हृदा यत्तष्टान् मन्त्राँ अशंसन् ॥

ऋ० १.६७.२॥

विनय

मन्त्रों की बड़ी महिमा है । मन्त्रों की शक्ति अद्भुत है । मंत्र शक्ति से हम जो चाहें वह प्राप्त कर सकते हैं । यह ठीक है कि हम प्रतिदिन वेदमन्त्रों का बहुत उच्चारण करते हैं, तो भी हमें इससे कुछ प्राप्त नहीं होता । पर इसका कारण यह है कि ये मन्त्र हमारे हृदय से नहीं निकले होते । जो भक्त लोग हृदय से घढ़े हुवे, हृदय की गम्भीर गहराई से निकले हुवे, हार्दिक भावना से तीक्ष्ण हुवे और पवित्र अन्तःकरण की गम्भीर सूक्ष्म तथा विस्तृत ज्ञानशक्ति से तेजोयुक्त हुवे-हुवे वेद मन्त्रों को बोलते हैं, वे अपने ऐसे मन्त्रोचारण द्वारा उस 'ईक्षण' नामी दिव्य शक्ति को संचालित कर देते हैं जिससे बढ़ कर संसार में अन्य कोई शक्ति नहीं है । इसलिए वे नर, वे सब पुरुष, अपने अन्दर ही सब कुछ पा लेते हैं । वे 'धी' को धारण करने वाले, स्थितप्रज्ञ होने और निष्काम कर्म

करने से हृदय (आत्म) शुद्धि पा लेने वाले, अपने हृदय में ही सब कुछ पा लेते हैं। हृदय की गुफा में जो अग्निदेव छिपे बैठे हैं, सब ऐश्वर्यों को हाथ में लिये हुवे और देवों को अपने में धारण किये हुवे हमारे अग्नि देव छिपे बैठे हैं उन्हें पा लेते हैं। और इस प्रकार मन्त्रशक्ति द्वारा अग्नि देव को पा लेने पर, प्रकट कर लेने पर, फिर संसार का कौन सा ऐश्वर्य है, कौन सा दिव्य गुण है जिसे ये 'नर' नहीं पा लेते। संसार के सम्पूर्ण धन ऐश्वर्यों को तो हाथ में रखे हुवे, सब देवों (दिव्य गुणों) को अपनी ज्ञानमय शरण में लिये हुवे ये हमारे अग्नि देव हमारे हृदय में ही स्थित हैं, पर हम हैं जो कि 'मन्त्रों का उच्चारण' करके उन्हें पा नहीं लेते, हृदय से मन्त्रोचारण करना तक सीख नहीं लेते, हृदय से निकले मन्त्रों से इन्हें प्राप्त कर नहीं लेते।

शब्दार्थ—

अग्नि देव (विश्वानि) सम्पूर्ण (नृम्णा) ऐश्वर्यों को (हस्ते) हाथ में (दधानः) लिये हुवे (देवान्) देवों, दिव्य गुणों को (अमे) अपने घर में, अपनी ज्ञानमय शरण में (धात्) धारण करता है, इस प्रकार वह (गुहा) [हृदय की] गुफा में (निषीदन्) बैठा हुवा, छिप कर बैठा हुवा है। (अत्र) इस हृदय गुफा में (ईं) इसको (धियन्धाः) बुद्धि और कर्म को ठीक प्रकार धारण करने वाले (नरः) पुरुष (विदन्ति) तब पा लेते हैं (यत्) जब वे (हृदा) हृदय से, हार्दिक भाव से (तष्टान्) निकले हुए, तेजोयुक्त हुवे हुवे (मन्त्रान्) मन्त्रों को (अशंसन्) उच्चारण करते हैं।

* *

*

११ मार्गशीर्ष

वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः ।
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः, शिशिर इन्नु रन्त्यः ॥

सामः पू० ६.३.१३.२॥

विनय

मेरे प्रभु की सृष्टि में सभी ऋतुयें रमणीय हैं। हर एक ऋतु में अपनी-अपनी रमणीयता है । जो लोग प्रभु के प्रेम को नहीं जानते वे ही हर समय, हर ऋतु में असन्तुष्ट रहते हैं । गर्मी में उन्हें शीत याद आता है, पर शीत आ जाने पर वे कहते हैं "गर्मी की ऋतु अच्छी होती है ।" घर्मकाल में वे प्रतिदिन वर्षा की प्रतीक्षा में रहते हैं परन्तु वर्षा आने पर वे बरसात से तंग आ जाते हैं। इस प्रकार उन्हें हर समय में शिकायत ही शिकायत रहती है । उन्हें कोई भी ऋतु अच्छी नहीं लगती। परन्तु प्रभुप्रेम का कुछ प्रसाद पा लेने पर मुझे तो प्रत्येक ऋतु में अपने प्रभु की ही कोई न कोई प्रतिमा दिखायी देती है। इसलिये गर्मी में मैं सुख से गर्मी का आनन्द लेता हूँ और जाड़ों में जाड़े का। वर्षा-काल में मैं खूब बरसात मनाता हूँ और पतझड़ में मैं अपने प्रभु का एक दूसरा ही सौन्दर्य पाता हूँ। इस तरह मैं हर समय हर ऋतु में अपने प्रभु का दर्शन करता हूँ और देखता हूँ कि प्रत्येक ऋतु अपनी नयी नयी प्रकार की रमणीयता के साथ नया नया प्रभु सन्देश लाती हुई मेरे पास आ रही हैं।

मेरे जीवन रूपी संवत्सर में भी इसी प्रकार सब ऋतुयें आया करती हैं। कभी सुख सम्पत्ति की घड़ियाँ आती हैं तो कभी दुःख दारिद्र्य के लम्बे दिन व्यतीत होते हैं। कभी अति कार्य-व्यग्रता का राजसिक समय वर्षों तक चलता है तो कभी काफ़ी समय के लिये शिथिलता और दीर्घ-सूत्रिता के दिनों की बारी आती है। पर मैं उन सभी का रसास्वादन करता हूँ। ये सभी रस अपने २ समय पर प्राप्त होते हुवे मुझे प्रिय लगते हैं। इस प्रकार मैं अपने बाल्य-काल के वसन्त में खूब खेला हूँ, नौ-जवानी की ग्रीष्म के जोशीले दिनों का तथा प्रौढ़ता की बरसात के प्रेमपूर्ण दिनों का आनन्द भी मुझे याद है, आज-कल सार्वजनिक जीवन की शरद् और हेमन्त की बहार ले रहा हूँ और देख रहा हूँ कि वार्धक्य की शिशिर अपनी बुजुर्गी अनुभवपूर्णता और परिपक्वता की स्वर्गीयता के साथ आगे मेरी प्रतीक्षा कर रही है। निःसन्देह प्रभु की वसन्त ही नहीं किन्तु ग्रीष्म भी रमणीय है, वर्षा और इसके अनन्तर आने वाली शरद् के साथ उसकी हेमन्त तथा शिशिर भी उसी तरह रमणीय हैं।

शब्दार्थ—

(वसन्तः) वसन्त (इत् नु) निश्चय से ही (रन्त्यः) रमणीय है और (ग्रीष्मः) गर्मी की ऋतु भी (इत् नु) निश्चय से ही (रन्त्यः) रमणीय है। (वर्षाणि) वर्षायें (अनु शरदः) उसके पीछे आने वाले शरद के दिन (हेमन्तः) और हेमन्त ऋतु, तथा (शिशिरः) पतझड़ की ऋतु भी (इत् नु) निश्चय से (रन्त्यः) रमणीय है।

* *

*

१२ मार्गशीर्ष

इमे हि ते ब्रह्मकृतः सुते सचा मधौ न मक्ष आसते ।
इन्द्रे कामं जरितारो वसूयवो रथे न पादमा दधुः ॥

ऋ० ७.३२.२॥ सा० उ० ८.२.६.२॥

विनय

हे इन्द्र ! सदा तेरे ज्ञान का निष्पादन करने वाले, तेरे उद्देश्य से ब्रह्मयज्ञ करने वाले ये भक्त लोग जगह जगह से तेरे ज्ञान का, तेरे प्रेम का, संग्रह करते रहते हैं । जैसे "मधुकृत्" मक्षिकायें जहां मधु देखती हैं वहीं जा बैठती हैं और इस प्रकार सब कहीं से मधु इकट्ठा करती हैं, उसी तरह ये 'ब्रह्मकृत्' लोग जहां कोई विकसित ज्ञान पुष्प देखते हैं, जहां कहीं तेरे गुणों की सुगन्धि पाते हैं वहीं जा पहुँचते हैं और उसमें समवेत होकर, तल्लीन होकर तेरे भक्तिरस का आस्वादन और संग्रहण करते हैं । प्रत्येक ब्रह्मचर्चा के स्थान से, प्रत्येक हरिकीर्तन मंडली से, प्रत्येक शुभयज्ञ से, प्रत्येक सद्ग्रन्थ से और क्या, प्रत्येक चेताने वाली घटना से अर्थात् जहाँ भी कहीं तेरे लिये 'सोम अभिषुत किया' जाता है उन सभी स्थलों से वे तल्लीन होकर चुपके से मधु को, सोमरस को वे ज्ञानामृत

को ग्रहण कर जाते हैं। इस तरह ये लोग ज्ञानधनी भक्तशिरोमणि बन कर सब संसार के लिए भक्तिपूर्ण ज्ञान प्रदान करते हैं, संसारी प्यासों को ज्ञानामृत पिलाते हैं।

इन भक्तों में ऐसा सामर्थ्य इसलिए आ जाता है चूंकि ये दुनियावी कामनाओं से पीड़ित नहीं होते। ये निष्काम होते हैं। ये अपनी सब कामनायें इन्द्र प्रभु में समर्पित कर चुके होते हैं। जैसे कि रथ में पैर रख कर, रथ में बैठ कर हमें अभीष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए स्वयं अपने प्रयत्न से नहीं चलना पड़ता, रथ हमें स्वयं पहुँचा देता है, उसी तरह ये तेरे स्तोता भक्त लोग अपनी कामना मात्र को तुझ परमेश्वर में रख कर निश्चिन्त हो जाते हैं कि तुम सर्वशक्ति सर्वज्ञानी प्रभु स्वयमेव उनकी सब शुभ कामना को ठीक तरह पूर्ण करोगे, स्वयमेव अभीष्ट फल को प्राप्त कराओगे। ओह! इस इन्द्र रथ का आश्रय पाकर, अपनी कामना रूपी पैरों को समेट कर इस रथ पर बैठ जाने पर, कोई तृष्णा व्याकुलता नहीं रहती, कोई चिन्ता जलन नहीं रहती, कोई झंझट व परेशानी नहीं रहती।

शब्दार्थ—

(मधौ न) जैसे मधु पर (मक्षः) मधु मक्षिकायें (आसते) बैठती हैं वैसे (इमे) ये (ते) तेरे (ब्रह्मकृतः) ज्ञान निष्पादन करने वाले भक्त लोग (हि) निश्चय से (सुते) प्रत्येक सुत सोम पर, प्रत्येक ज्ञान निष्पादन के स्थल पर (सचा) समवेत होकर, तन्मग्न होकर बैठते हैं। और ये (वसूयवः) वसु व अभीष्ट फल चाहने वाले (जरितारः) स्तोता, भक्त लोग (इन्द्रे) परमेश्वर में (कामं) अपनी इच्छा को, कामनामात्र को (आदधुः) रख देते हैं, समर्पित कर देते हैं, (रथे न) जैसे रथ में (पादं) पैर को रख देते हैं [और बैठ जाते हैं]।

१३ मार्गशीर्ष

महि महे तवसे दीध्ये नॄन् इन्द्रायेत्था तवसे अतव्यान् ।
यो अस्मै सुमतिं वाजसातौ स्तुतो जने समर्यश्चिकेत ॥

ऋ० ५.३३.१॥

विनय

जीवन का संग्राम बड़ा विकट है । मैं क्षुद्र हूँ, अत्यन्त निर्बल हूँ । परन्तु हे इन्द्र ! तुम तो महान् हो, बलवान् हो, सर्वशक्तिधाम हो, और तुम्हारी शक्ति का आश्रय पाकर मैं निर्बल भी महाबली हो सकता हूँ । इसलिए मैं आज "अतव्यान्" हो कर भी महान् बल पाने के लिये महत्वपूर्ण 'आरम्भ' करने लगा हूँ । तेरा ध्यान करके मैं आज अपनी सुप्त शक्तियों को जगाता हूँ, अपनी छिपी हुई 'नर' शक्तियों को, नेतृत्व की शक्तियों को उद्बुद्ध करता हूँ, ध्यान द्वारा अपने पौरुषों को

प्रदीप्त करता हूँ, अपने आपको प्रकाशित करता हूँ। इस प्रकार महान् बल को धारण करके मैं अपनी विजय-यात्रा पूरी करूँगा। परन्तु हे इन्द्र! यह सब मैं तुम्हारा अवलम्बन पाकर ही कर सकूँगा। तुम 'समर्य' हो, इस संसार-समर में विजय प्राप्त कराने वाले हो। उस श्रेष्ठमति को तुम्हीं जानते हो और तुम्हीं दे सकते हो जिसके द्वारा इस घोर जीवन-संग्राम में विजय प्राप्ति होती है। मैं जानता हूँ कि भक्ति से अभिमुख हुवे तुम नित्य सुमति देने वाले पथप्रदर्शक बन जाते हो। इस लिये इस दीन जन पर भी कृपा करो। तुम्हारा नाम लेकर, तुम्हारे लिये, मैं आज इस प्रकार महान् कार्य प्रारम्भ करने लगा हूँ, महान् बल पाने के लिये अपने पौरुषों को प्रदीप्त करने का महान् कार्य प्रारम्भ करने लगा हूँ।

शब्दार्थ—

(महि) महत्व के साथ (महे तवसे) महान् बल के लिये मैं (नॄन्) अपनी नर-शक्तियों को, पौरुषों को (दीध्ये) प्रदीप्त करता हूँ, ध्यान द्वारा प्रदीप्त करता हूँ; (इत्था) इस प्रकार (तवसे इन्द्राय) बलस्वरूप इन्द्र के [पाने के] लिये (अतव्यान्) मैं निर्बल [अपनी नृ शक्तियों को प्रदीप्त करता हूँ] (यः) जो कि इन्द्र (स्तुतः) भक्ति से अभिमुख किया गया (समर्यः) संग्राम कराने वाला, संग्राम में हितकारक (अस्मै जने) इस निर्बल जन के लिये (वाजसातौ) जीवन संग्राम में (सुमतिं) उत्तम मति को (चिकेत) जानता है।

* *

*

१५ मार्गशीर्ष

आ संयतमिन्द्र णः स्वस्तिं शत्रुतूर्याय बृहतीममृध्राम् ।
यया दासान्यार्याणि वृत्रा करो वज्रिन्त्सुतुका नाहुषाणि ॥
ऋ. ६.२२.१० ॥

विनय

हे इन्द्र ! तुम्हीं पूरी तरह शत्रु का विनाश करने वाले हो। तुम शत्रु का इतनी अच्छी तरह विनाश करते हो कि उसका सब शत्रुत्व, सब बुराई विनष्ट हो जाती है किन्तु वह मनुष्य, उसकी अच्छाई जरा भी नष्ट नहीं होने पाती, बल्कि वह मनुष्य अधिक श्रेष्ठ मनुष्य बन जाता है। तुम दास शत्रुओं को आर्य बना कर उनका शत्रुपना नष्ट कर देते हो और मानुष शत्रुओं को उत्तम आचरण वाले मनुष्य बनाकर उनका शत्रुत्व नष्ट कर देते हो। तुम अपनी जिस स्वस्ति से, जिस स्वस्थता से, जिस निर्विकारता से, जिस कल्याणमय अवस्था से ऐसा करते हो वह हमें भी प्रदान करो। हम अपने शत्रुओं का सच्चे अर्थों में विनाश कर सकें इसके लिये वह अपनी स्वस्ति, वह अपनी निर्विकारता हमें भी प्राप्त कराओ। यह ठीक है कि हम में वह संयम, वह महत्ता, वह अहिंसा नहीं है जिसके बिना तुम्हारी यह स्वस्ति की शक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। परन्तु ये गुण हमें

अन्य कौन प्रदान करेगा ? हे इन्द्र ! तुम्हीं वह महान् अहिंसा-रूपिणी संयमवाली स्वस्ति-शक्ति हम में भर दो जिसके प्रयोग से मनुष्यत्व से गिरे हुवे, उपक्षय करने वाले, दास भी आर्य मनुष्य बन जाते हैं और मनुष्य 'वृत्र' भी उत्तम गमन व आचरण वाले, सुन्दर वृद्धि करने वाले या तेरे सुपुत्र बन जाते हैं; शत्रु नहीं रहते। हम भी, हे वज्र वाले ! हे पाप का वर्जन करने वाले ! अब ऐसे ही ठीक प्रकार से शत्रु विनाश कर सकने वाले होना चाहते हैं। शत्रुओं को उलटे तरीक़े से, असंयम और हिंसा के तरीक़े से, विनाश करने का यत्न करते करते हम तंग आ गये हैं। इस लिये हे इन्द्र ! अब हमें तुम्हीं अपना वह संयम प्रदान करो, अपनी वह महत्ता प्रदान करो, अपनी वह अहिंसा शक्ति प्रदान करो और एवं उस स्वस्ति व निर्विकारता का प्रदान करो जिसके साधन से मनुष्य किसी की भी हिंसा न करता हुवा सबकी उन्नति ही साधता है और इस प्रकार इस संसार में पूरी तरह शत्रुरहित हो जाता है।

शब्दार्थ—

(हे इन्द्र) हे इन्द्र ! (शत्रु तूर्याय) शत्रुओं के विनाश के लिये (नः) हमें वह (बृहतीं) महान् (अमृध्रां) हिंसा रहित, अहिंसिका (संयतं) संयमवाली (स्वस्तिं) स्वस्थता, निर्विकारता की अवस्था, कल्याणमयता को (आ [भर]) सब ओर से प्राप्त कराओ, (यया) जिस [स्वस्ति] द्वारा तुम (दासानि वृत्रा) दास शत्रुओं को (आर्याणि) आर्य (करः) कर देते हो, बना देते हो और (वज्रिन्) हे वज्र वाले ! (नाहुषाणि [वृत्रा]) मनुष्य शत्रुओं को (सुतुका) उत्तम गमन व वृद्धि वाले या सुपुत्र बना देते हो।

१६ मार्गशीर्ष

विश्वेषामदिति र्यज्ञियानां विश्वेषामतिथि र्मानुषाणाम् ।
अग्नि र्देवानामव आवृणानः सुमृडीको भवतु जातवेदाः ॥

ऋक् ४. १. २० । यजु० ३३. १६ ॥

विनय

क्या तुम जानते हो कि हम मनुष्य जो देवों का यजन करते हैं और उसके बदले में ये देव हम मनुष्यों को इष्ट फल प्रदान करते हैं यह सब क्योंकर होता है ? हम मनुष्यों का देवों के साथ जो यह यज्ञिय सम्बन्ध जुड़ा है उसका जोड़ने वाला कौन है ? यह अग्नि है, जातवेदा है । इस प्रयोजन के लिए यह अग्निदेव जहां एक तरफ़ सब देवों का अदिति है, वहां दूसरी तरफ़ सब मनुष्यों का अतिथि हुवा है । जहां यह सब यज्ञियों, यजनीयों, देवों, का अखण्डित निवास स्थान है, उनकी माता है; वहां यह हम मनुष्यों के उपकार के लिए स्वयं यजनीय पूजनीय अतिथि हो कर हमारे पास भी आया हुवा है । इस अतिथि रूप से यह हमारा हवि ग्रहण करता है और अदिति रूप से यह उसे देवों को पहुँचाता है । और फिर जो ये देवगण प्रतिफल में हमारे लिए 'अवः' देते हैं, रक्षा, तृप्ति आदि भेजते हैं, उसे स्वीकार करता हुवा यही अग्नि "जातवेदा" होकर हम मनुष्यों को अभीष्ट सुख पहुँचाता है । इस समय इसका नाम जातवेदा इसलिए होता है चूंकि

तब इसमें देवों द्वारा प्रतिफल में आया हुवा 'वेदस्' अर्थात् अभीष्ट ऐश्वर्य उत्पन्न हो चुका होता है। यह प्रक्रिया है जिससे कि यजन द्वारा हमें अभीष्ट फल, सुख शान्ति समृद्धि आदि प्राप्त होते हैं। यह अग्निदेव ही है जिस के द्वारा "हम देवों को भावित करते हैं और देव हमें भावित करते हैं एवं परस्पर भावित करते हुवे हम परम कल्याण की तरफ़ जा रहे हैं" देखो, यह सब अग्निदेव की महिमा है। उपनिषदों में इसकी महिमा प्राणाग्नि आदि नाम से बहुत बहुत गायी गयी है। निस्सन्देह इस अग्निदेव की जितनी महिमा गायी जावे उतनी थोड़ी है।

हे परमेश्वर! हे अग्निओं के अग्नि! तुम हम पर ऐसी कृपा करो जिससे कि ये महिमाशाली अग्निदेव हम यजनशील पुरुषों के लिए सदा उत्तम सुख देने वाले रहें, सदा श्रेष्ठ सुख प्रदान करते रहें।

शब्दार्थ—

अग्नि (**विश्वेषां**) सब (**यज्ञियानां**) यजनीयों का, देवों का (**अदितिः**) अखण्डित निवास-स्थान है, या माता है और (**विश्वेषां**) सब (**मानुषाणां**) मनुष्यों का (**अतिथिः**) अतिथि है, आया हुवा महमान है। (**अग्निः**) वह अग्नि (**देवानां**) देवों के (**अवः**) रक्षण तृप्ति आदि फल को (**आवृणानः**) स्वीकार करता हुवा (**जातवेदाः**) और एवं अभीष्ट ऐश्वर्यों से युक्त हुवा हुवा [हमारे लिए सदा] (**सुमृडीकः**) उत्तम सुख देने वाला (**भवतु**) होवे।

* *
*

१७ मार्गशीर्ष

ये रूपाणि प्रतिमुंचमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति ।
परापुरो निपुरो ये भरन्ति, अग्निष्टाँल्लोकात्प्रणुदात्यस्मात् ॥
यजु० २. ३० ॥

विनय

हे जगदीश्वर! यहां से असुरों को दूर करदो, प्रच्छन्न असुरों को दूर भगा दो। यह लोक, यह स्थान तो देवों के लिये है। इस मेरे अध्यात्म, अधिभूत और अधिदेव लोक में देव-भाव, देवमनुष्य, दैवी शक्तियां ही रहनी चाहिए। किन्तु हे अग्ने! आसुर भाव, असुर लोग, आसुरी शक्तियां भी यहां आघुसती हैं। ये असुर अपने नग्नस्वरूप में तो यहां आ नहीं सकते, इसलिए ये अपने अज्ञान, अधर्म, अनैश्वर्य के असली स्वरूपों को छिपाकर ज्ञान धर्म और ऐश्वर्य के रूपों को दिख-लाते हुवे यहां आते हैं। अपने असली दुर्भावों को अन्दर दबा कर अपने को बड़े सद्भावों से प्रेरित हुवे प्रकट करते हैं। अपने स्वार्थपूर्ण अभिप्रायों को इस प्रकार उच्च सिद्धान्तों में लपेट कर लोगों के सामने पेश करते हैं कि लोग इन्हें "देव" समझते हैं। इसीलिये असुर होते हुवे भी ये यहां की 'स्वधा' को प्राप्त करते हैं, यहां के अन्न से, रस से, स्थूल पार्थिव शक्ति से युक्त होकर ये विचरते हैं। परन्तु अन्दर से ये बिलकुल असुर होते हैं, अशोभन, बुरे पुरुष होते हैं। यज्ञ को, श्रेष्ठ संगठन को

ध्वंस करने वाले होते हैं। असुओं में (प्राणों में) ही रमने वाले इन्द्रिय-भोगरत होते हैं। इसलिये ये स्वार्थी लोग सदा अपने ही पेट भरने में लगे रहते हैं। ये "परापुर्" और 'निपुर्' होते हैं, धर्म से बहुत दूर होकर बिलकुल विमुख हो कर भी अपने आपको भरते हैं और धर्म से नीचे गिरकर निकृष्ट उपायों से भी अपने को भरते हैं। अधर्म, अन्याय द्वारा दूसरों को हरते हुवे और अपने स्वार्थों को पूरा करते हुवे, किन्तु ऊपर से अपने आप को धार्मिक सच्चे दिखलाते हुवे ये असुर इस लोक में धन सुख यश पाते हुवे विचरते हैं। इसलिये हे अग्ने ! इन प्रच्छन्न असुरों को, जो कि खुले असुरों की अपेक्षा बहुत भयंकर होते हैं, इस पवित्र लोक से दूर कर दो। निःसंदेह तेरी सन्तापक शक्ति के सामने ये ठहर नहीं सकते हैं, तेरे तेज को यह सह नहीं सकते हैं। अतः अब इन असुरों को यहां से बहिष्कृत कर दो और इस स्थान को, इस समाज को, इस पवित्र संगठन को असुररहित कर दो।

शब्दार्थ—

(ये) जो (रूपाणि प्रतिमुंचमानाः) [अपने रूपों को छिपा कर] रोचक रूपों को दिखलाते हुवे (असुराः सन्तः) असुर, राक्षस होते हुवे भी (स्वधया) अन्न से, रस से, स्थूल पार्थिवशक्ति से [युक्त होकर इस लोक में] (चरन्ति) विचरते हैं और (ये) जो (परापुरः) धर्म से दूर हट कर अपने आप को पूरते हैं (निपुरः) नीचे गिर कर निकृष्ट उपायों से भी अपने को पूरते हैं (भरन्ति) इस प्रकार अपने को भरते हैं या दूसरों को हरते हैं (तान्) उन [छिपे असुरों] को (अग्निः) तेजोमय संतापक अग्नि (अस्मात् लोकात्) इस लोक से (प्रणुदाति) दूर कर देवे, हटा देवे।

१८ मार्गशीर्ष

ईशे ह्यग्निरमृतस्य भूरेः, ईशे रायः सुवीर्यस्य दातोः।
मा त्वा वयं सहसावन्नवीरा माप्सवः परिषदाम मा दुवः॥

ऋक् ७.४.६॥

विनय

हे अग्ने! हम तुम्हारी बहुत सी विफल उपासना करते हैं। तुम तो सर्व शक्तिमान् हो, हमें सब कुछ दे सकते हो। हमें प्रभूत अमृत, विविध प्रकार का आध्यात्मिक ऐश्वर्य प्रदान करने में समर्थ हो, सुवीरता आदि सहित सब प्रकार का भौतिक धन देनें में समर्थ हो, परन्तु हम ही हैं जो कि तुम्हारी आराधना करने के अयोग्य हैं। अतएव तुम सर्वदाता से भी हम कुछ प्राप्त नहीं कर सकते। हम कितने मूर्ख हैं कि निर्वीर्य होकर, विकारयुक्त होकर और सेवारहित होकर तुम्हारा भजन करना चाहते हैं। भला हम बुजदिल कायर लोग, हे सहसावन्! तुम्हारी क्या उपासना कर सकते है? हम विकार

युक्त मलिन हृदयों वाले तुम्हारी क्या उपासना करेंगे ? हम सेवारहित स्वार्थी पुरुष तुम्हारी उपासना से क्या लाभ प्राप्त करेंगे ? अतः हम ने आज से निश्चय किया है कि अब हम वीर्यहीन, विकृत और असेवक होकर कभी तुम्हारी उपासना में नहीं बैठेंगे। हम सब कमज़ोरिओं को हटा कर निर्भय वीर हो कर तुम्हारे सच्चे उपासक बनेंगे, सब काम क्रोधादि मलिनताओं को दूर करके शुद्ध सुरूप बनकर तुम्हारी आराधना करने बैठेंगे और दिन रात निरन्तर सेवाकार्य करते हुवे ही अब हम प्रातःसायं तुम्हारा भजन किया करेंगे। सचमुच तभी हम तुम्हारे पास बैठने के योग्य होंगे, तुम्हारी उपासना करने के अधिकारी बनेंगे। और तभी उपासना द्वारा तुम से अमृतत्व आदि आध्यात्मिक ऐश्वर्यों को, वीरता आदि सद्गुणों को तथा अन्य भौतिक ऐश्वर्यों को भी प्राप्त कर सकेंगे।

शब्दार्थ—

(अग्निः) परमेश्वर (हि) निश्चय से (भूरेः) बहुत प्रकार के (अमृतस्य) अमरपन के, आध्यात्मिक ऐश्वर्य के (दातोः) देने में (ईशे) समर्थ है और (सुवीर्यस्य) सुन्दर वीरता सहित (रायः) धन के, भौतिक ऐश्वर्य के, देने में (ईशे) समर्थ है। परन्तु (सहसावन्) हे सर्वशक्तिमन्! बलवन्! (वयं) हम (त्वा) तुम को (अवीराः) वीरता रहित, कायर होकर (मा) मत (परिसदाम) उपासना करें (अप्सवः) कुरूप, विकृतहो कर (मा) मत उपासना करें, और (अदुवः) असेवक होकर (मा) मत उपासना करें।

*

* *

१६ [illegible]

त्वे असुर्यं वसवो नृण्वन् क्रतुं हि ते मित्रमहो जुषन्त ।
त्वं दस्यूँ रोकसो अग्न आज उरु ज्योतिर्जनयन्नार्याय ॥

ऋक् ७.५.६॥

विनय

हे अग्ने ! तुझ में आश्रय लेकर ये पृथिव्यादि वसु अपने असुर्य को, प्राणवत्व को, सामर्थ्य को प्राप्त कर रहे हैं, तुझ में ही आश्रय पाकर ब्रह्मचारी वसु लोग भी अपने प्राणवत्व और प्रज्ञावत्व (बल और ज्ञान) को प्राप्त कर रहे हैं। ये वसु इस सामर्थ्य को इसलिये पारहे हैं, बल्कि तेरे आश्रय को भी इसलिये पारहे हैं, चूंकि ये तेरे 'क्रतु' का सेवन करते हैं। इस संसार में जो तेरा महान् कर्म चल रहा है उसका ये सेवन करते हैं, उसके अनुकूल आचरण करते हैं। तेरे महान् संकल्प व ज्ञान के अनुसार ये अपना व्यवहार, कर्म करते हैं। परन्तु जो लोग तेरे 'क्रतु' का सेवन नहीं करते हैं वे तेरे इस घर से बहिष्कृत हो जाते हैं, विनष्ट हो जाते हैं। हे अग्ने ! तुम तो 'मित्रमहाः' हो। तुम्हारा तेज मित्र है, स्नेह करने वाला है। जो लोग तुम्हारे इस मित्र तेज से मैत्री करते हैं वे संसार में 'आर्य' कहलाते हैं। पर जो इस स्नेह करने वाले तेरे तेज से द्वेष करते हैं, जिन्हें ये तेरा तेज अच्छा नहीं लगता

वे ही 'दस्यु' नाम से पुकारे जाते हैं। क्योंकि इस तेज से मैत्री करनेवाले ही तेरे इस तेज को, प्रकाश को प्राप्त कर सकते हैं। अतः वे ही तेरा प्रकाश पाकर श्रेष्ठाचरण वाले अर्थात् आर्य बनते हैं। अपने स्वार्थमय क्षुद्र प्रकाश में मस्त रहने वाले, दूसरे 'दस्यु' लोगों को तेरी विस्तृत ज्योति नहीं प्राप्त होती है। दस्यु अर्थात् दूसरों का उपक्षय करने वाले वे इसीलिये बनते हैं क्योंकि वे स्वार्थान्ध होते हैं, क्योंकि वे प्रकाश से प्रेम न रखने के कारण तेरी विस्तृत ज्योति को न पाकर अपने में अन्धे होते हैं। अतएव जब तू अपने किसी घर में, किसी लोक में विस्तृत ज्योति को प्रकाशित कर देता है तो वहाँ ये अन्धकारप्रिय दस्यु नहीं ठहर सकते। वहाँ से ये निकल जाते हैं। इस प्रकार, हे मित्रमहः ! तू आर्यों के लिये महान् ज्योति देता हुवा दस्युओं को निकाल रहा है, इस प्रकार तेरे क्रतु का सेवन करनेवालों को अपना सहारा देता हुवा ऐसा न करनेवालों को इस परम अवलम्बन से वञ्चित रख रहा है और इस प्रकार तू तेरा सहारा लेने वालों को प्राण व बल देता हुवा दूसरों को विनष्ट कर रहा है।

शब्दार्थ

(वसवः) वसु (त्वे) तुझमें [आश्रित हो] (असुर्यं) प्राणवत्व को, सामर्थ्य को (नि ऋण्वन्) प्राप्त कर रहे हैं, (हि) क्योंकि वे (ते) तेरे (क्रतुं) कर्म का (मित्रमहः) हे मित्र तेज वाले ! (जुषन्त) सेवन करते हैं। (अग्ने) हे अग्ने (त्वं) तू (आर्याय) आर्यों, श्रेष्ठों के लिये (उरु) विस्तृत (ज्योतिः) ज्योति को (जनयन्) प्रकाशित करता हुवा (दस्यून्) दस्युओं, दूसरों का उपक्षय करनेवालों को (ओकसः) घर से (आजः) खदेड़ देता है, निकाल देता है।

२० मार्गशीर्ष

त्वावते हीन्द्र क्रत्वे अस्मि त्वावतोऽवितुः शूर रातौ ।
विश्वेदहानि तविषीव उग्र ओकः कृणुष्व हरिवो न मर्धीः ॥
ऋक्० ७.२९.४॥

विनय

जगदीश्वर ! तुम मेरे आत्मा के भी आत्मा हो । यह जान लेने पर अब मैं तुम्हारे जैसे आत्मीय के कर्म के लिये सदा उद्यत रहता हूँ । मैं प्रातः से सायंकाल तक और फिर सायं से प्रातः तक जो कुछ करता हूँ वह सब प्रभो! तुम्हारे लिये करता हूँ । हे शूर ! तुम सब जहान के रक्षक हो । इसलिये, तुम्हारे लिए कर्म करता हुवा मैं अब तुम्हारे जैसे महान् रक्षक के दान में भी हो गया हूँ, तुम्हारी महान् रक्षा में आ गया हूँ । तुम से मेरा सम्बन्ध स्थापित हो गया है । परन्तु फिर भी यह संसार-संग्राम बड़ा विकट है । पाप की प्रबल शक्तियां मुझे समय समय पर अपना भय दिखलाती हैं, मुझे संत्रस्त करती रहती हैं । उस समय, हे इन्द्र ! मैं सब सुध बुध भूल जाता हूँ । तुम्हारी रक्षा, शक्ति, सब भूल जाता हूँ । इसलिये

मैं तो चाहता हूँ कि हे इन्द्र ! तुम मुझ में अब अपना घर कर लो, हमेशा के लिए घर कर लो। अपनी दिव्य सेना के साथ, अपनी सब उग्रता और ओजस्विता के साथ मुझ में अपना घर बनालो। हे सेना वाले ! हे उग्र ! मुझ में अपना घर बनालो। तभी ये आसुरी शक्तियां मुझे भयभीत न कर सकेंगी। नहीं तो मैं इन भयों और आशंकाओं से ही मरा जा रहा हूँ। हे इन्द्र ! मुझे इस मरने से बचाओ, मुझ में अपना स्थिर घर करके मरने से बचाओ। मैं तुम से और कुछ नहीं चाहता, और कुछ आकांक्षा नहीं करता, बस, मुझ में अब अपना घर बनाओ। हे हरिओं वाले ! तुम अपनी ज्ञानक्रिया और बल-क्रिया के हरिओं से इस सब संसार का धारण पोषण कर रहे हो, तुम मुझे अब इस तरह विनष्ट मत होने दो, मुझ में अपना घर बनाओ और इस तरह मुझे विनष्ट होने से बचाओ।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! मैं (त्वावतः) तेरे जैसे [आत्मीय] के (क्रत्वे) कर्म के लिये (हि) ही, निःसन्देह (अस्मि) हूँ, सदा उद्यत हूँ और (शूर) हे शूर ! (त्वावतः) तेरे जैसे (अवितुः) रक्षक के (रातौ) दान में भी हूँ। परन्तु (तविषीवः) हे सेना वाले ! (उग्र) हे उग्र ! ओजस्विन् ! तुम अब (विश्वाइत् अहानि) सब ही दिनों के लिये, हमेशा के लिये मुझ में (ओकः) अपना घर (कृणुष्व) कर लो, बना लो (हरिवः) हे हरिओं वाले ! (न मर्धीः) मुझे मरने न दो।

* *

*

२१ मार्गशीर्ष

का ते अस्त्यरङ्कृतिः सूक्तैः कदा नूनं ते मघवन् दाशेम ।
विश्वा मतीरा ततने त्वाया अधा म इन्द्र शृणवो हवेमा ॥
ऋक्० ७.२९.३॥

विनय

अपने सूक्तों से, स्तोत्रों से और वेदमंत्रों की स्तुतिओं से भी हम तेरी क्या अलंकृति कर सकते हैं, हम तेरी क्या शोभा बढ़ा सकते हैं ? हम तो, हे इन्द्र ! उस समय की प्रतीक्षा में हैं जब हम अपने आप को तुझे समर्पित कर देंगे, तुझे दे देंगे । कब हम, हे मघवन्, सचमुच तेरे लिये अपनी भेंट चढ़ा सकेंगे ? वह समय कब आयेगा ? अपने आप को तुझे दे देने के लिए हम आतुर हो रहे हैं । मेरे सम्पूर्ण ज्ञान, मेरे सम्पूर्ण ध्यान, मेरे सम्पूर्ण विचार, मेरे सम्पूर्ण संकल्प तेरी ही कामना के लिए उठ रहे हैं । दिन रात की मेरी सम्पूर्ण मतियां अपने पंख फैलाये तेरी ही तरफ़ उड़ रही हैं । मेरे मन की सम्पूर्ण गतियां तेरे ही उद्देश से हो रही हैं । मैं अपने सम्पूर्ण

अन्तःकरण से निरन्तर तुझे ही याद कर रहा हूँ। फिर भी, हे इन्द्र ! न जाने क्यों तू मेरी सब पुकारों को अनसुनी कर रहा है। मैं दर्शन पाने के लिये, तुझे आत्मसमर्पण कर देने के लिये पुकार रहा हूँ। न जाने कब से पुकार रहा हूँ। हे इन्द्र ! अब तो तू मेरी इन पुकारों को सुन ले। हे ऐश्वर्य वाले ! मघवन् ! अब तो तू मेरी इन पुकारों को सुनी करदे, सफल कर दे।

शब्दार्थ

(सूक्तैः) स्तुति के सुन्दर वचनों से (ते) तेरी (का) क्या (अरंकृतिः) अलंकृति, शोभा (अस्ति) हो सकती है ? (मघवन्) हे ऐश्वर्य वाले ! (ते) तेरे लिये हम (कदा) कब (नूनम्) सचमुच (दाशेम) अपने आप को दे देंगे ? मैं अपनी (विश्वाः) सम्पूर्ण (मतीः) मतियां (त्वाया) तेरी कामना से ही (आततने) विस्तृत कर रहा हूँ, कर रहा हूँ (अधा) अब तो (इन्द्र) हे इन्द्र ! (मे) मेरी (इमा) इन (हवा) पुकारों को (शृणवः) सुन लो।

*

* *

२२ मार्गशीर्ष

तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्य, अपि भद्रे सौमनसे स्याम ।
स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मे आराच्चिद् द्वेषः सनुत र्युयोतु ॥

ऋक्० ६.४७.१३॥ ऋक्० १०.१३१.७॥ यजु० २०.५२॥

विनय

हम चाहते हैं कि हम पूजनीय परमेश्वर के प्यारे बनें। हम सदा उन यज्ञिय देव की सुमति में रहें, उनके कल्याण-कारक सौमनस में बसें। हमें सदा उसकी श्रेष्ठमति मिलती रहे, उसकी शुभ प्रसन्नता प्राप्त होती रहे। यह सब सुलभ है यदि हम उसका यजन करते रहें। वही एक मात्र इस संसार में हम मनुष्यों का यजनीय है, यज्ञार्ह है। यजन किया हुवा वही हमारा 'सुत्रामा' है। उस जैसा श्रेष्ठ रक्षक हमारा और कौन हो सकता है ? क्योंकि वही है जो अपनी निजी शक्ति रखता है। संसार में अन्य सभी उसी की शक्ति पाकर शक्ति-

मान् हुवे हैं। एक वही है जो कि 'स्ववान्' है। परन्तु उस सुत्रामा प्रभु का यजन करना आसान काम नहीं है। उसके यजन में जो सब से बड़ा बाधक है वह हमारा 'द्वेष' है। ज़रा से भी द्वेष को अपने हृदय में स्थान देकर हम उसका पूजन नहीं कर सकते। जिसके लिये यह पृथ्वीतल, सब संसार द्वेषरहित हो गया है वही इन्द्र प्रभु का यजन कर सकता है। इसलिये वे इन्द्र ही हम पर कृपा करें; हम से द्वेष को सर्वथा हटाकर हमें बिलकुल द्वेषरहित कर देवें। अहा, सर्वथा द्वेष-रहित हो जाना, कभी भी कहीं भी द्वेष न रहना, यह कैसी सुन्दर अवस्था है, कैसी आनन्दमय अवस्था है? उस अवस्था में पहुँच कर तो इन्द्र की सुमति हम पर बरसती है और उसके सौमनस में हम स्नान करते हैं।

शब्दार्थ—

(वयं) हम (तस्य) उस (यज्ञियस्य) यजनीय देव की (सुमतौ) सुमति में (स्याम) होवें, और उसकी (भद्रे) कल्याणकारक (सौमनसे) सुमनस्कता, प्रसन्नता में (अपि) भी होवें। (सः) वह (सुत्रामा) श्रेष्ठ रक्षक (स्ववान्) अपनी शक्ति वाला (इन्द्रः) परमेश्वर (अस्मे) हमसे (आरात्) दूर (चित्) ही (द्वेषः) द्वेष को (सनुतः) बिलकुल (युयोतु) हटा देवे।

*

* *

२३ मार्गशीर्ष

त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेडो अवयासिसीष्ठाः।
यजिष्ठो वन्हितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषाँसि प्रमुमुग्ध्यस्मत् ॥

ऋ० ४. १. ४॥ यजु:० २१.३॥

विनय

देवों का अनादर करना बड़ा अनर्थकारी होता है। जब हम प्रकृति के देवों का, उनके नियमों की अवज्ञा कर अनादर करते हैं या मनुष्य देवों (विद्वानों) का उनके उपदेशों की अवहेलना कर अनादर करते हैं, उस समय हम (न जानते हुवे भी) पाप बन्धन में गिर जाते हैं। क्योंकि, हे अग्ने ! तुम्हारी पापनिवारक वरुण शक्ति मानो रोषयुक्त होकर उसी समय हमें बांध लेती है ज्यों ही हम इस प्रकार किसी धर्म मर्यादा का उल्लंघन करते हैं, और इस बन्धन से फिर हमें तभी छुटकारा मिलता है जब हम पर्याप्त दुःख भोग चुकते हैं। इसलिये हे अग्ने ! तुम तो विद्वान् हो, सर्वज्ञ हो, हमारे पाप बन्धन (वरुण) के विषय में सब कुछ जानते हो, तुम्हीं ऐसी कृपा करो कि हम अब इन देवहेडनों (देवों के अनादरों) से दूर रहें, बचे रहें और हम कभी तुम्हारे वरुण के क्रोध के भाजन न हों। परन्तु यह तभी हो सकता है जब कि हमारा

द्वेषों से छुटकारा हो चुका हो। हम देवों का अनादर इसी-लिये करते हैं क्योंकि हम किन्हीं तीव्र रागद्वेषों में फंसे होते हैं। अतः हे अग्ने ! पहिले तो तुम हमें द्वेष क्रोध हिंसा अन्याय आदि के जंजाल से मुक्त करो। तुम से बढ़ कर इस संसार में हमारे लिये कोई यजनीय नहीं है, तुम यजनीयतम हो। यदि तुम्हारी दया से हम में यह यज्ञभावना जागृत रहे तब तो हम में द्वेष उत्पन्न ही न हो सकें। पर यदि ये उत्पन्न होवें तो भी हे वन्हितम ! हे सर्वश्रेष्ठ वाहक ! शुभ गुणों को प्राप्त कराने वाली तुम्हारी वाहक शक्ति के कारण ये द्वेष मुझ में ठहर न सकें, स्थिर न हो सकें। और यदि ठहर भी जाँय तो हे शोशुचान ! अत्यन्त प्रदीप्त अग्ने ! तुम इन्हें अपने जाज्वल्य-मान तेज से भस्म कर दो, राख कर दो। अपने इन उत्पत्ति स्थिति प्रलय के त्रिविध रूप द्वारा इस प्रकार तुम हम में से द्वेषों को समाप्त कर दो, हे अग्ने ! हमारा द्वेषों से सर्वथा छुटकारा कर दो।

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे अग्ने ! (त्वं) तुम (वरुणस्य) वरुण के, पापनिवारक देव के, उसके पाप बन्धन के विषय में (विद्वान्) पूरी तरह जानते हुवे (देवस्य) देव के (हेडः) अनादरों को (नः) हम से (अवयासि-सीष्ठा) दूर करो। तुम (यजिष्ठः) यजनीयतम (वन्हितमः) सब से बड़े वाहक (शोशुचानः) और अत्यन्त प्रदीप्त हो, तुम (अस्मत्) हम से (विश्वा द्वेषांसि) सब द्वेषों को (प्रमुमुग्धि) पूरी तरह छुड़ा दो।

* * *

२४ मार्गशीर्ष

स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ ।
अवयक्ष्व नो वरुण रराणो वीहि मृडीकं सुहवो न एधि ॥

ऋ० ४. १.५॥ यजुः २१.४॥

विनय

हे अग्ने ! हम तुम्हें पुकार रहे हैं। आज हम तुम्हें अपने पाप बन्धन से छुटकारा पाने के लिए पुकार रहे हैं। तुम अपनी रक्षा के साथ आओ। हमारे रक्षक बनो। तुम बेशक सब प्रकार से 'परम' हो; परन्तु हमारी रक्षा के लिए 'अवम' हो जाओ, नीचे उतर आओ, हमें अपनी निकटता का अनुभव कराओ। हम पतितों की रक्षा के लिए तुम्हारा अवम होना जरूरी है। यह देखो उषा का उदय हो रहा है, एक नये दिन का प्रारम्भ हो रहा है, हमारे लिए एक नवीन प्रकाश के पाने का समय आ रहा है। इस शुभ प्रभात में तो, हे अग्ने ! तुम हमारे निकटतम हो जाओ, आकर हमें अपनाओ। हम तुम्हें न जाने कब से रिझाने का यत्न कर रहे हैं। त्याग, तप, संयम, नियम आदि तुम्हारे प्रेम के पाने का कोई साधन हमने बाकी नहीं छोड़ा है। आज तो हम यह

अपने पवित्र आत्मबलिदान की भेंट हाथ में लेकर तुम्हें पुकार रहे हैं। क्या हमारे इस सुन्दर महान् बलिदान से भी तुम प्रसन्न न होगे? हमारी इस सुखदायी आत्माहुति को तो, हे अग्ने! तुम अवश्य स्वीकार करो। अब तो प्रसन्न होओ और रममाण होते हुवे आज तो हमारे इस पापबन्धन को काट गिराओ, और इस प्रकार हमारे इस यजन को सफल कर दो। पुकारते पुकारते बहुत समय हो गया है। अब तो, हे अग्ने! तुम हमारे लिए सुगमता से बुलाने योग्य हो जाओ, हमारी पुकार पर आ जाने वाले हो जाओ। आओ, हे अग्ने! आओ, यह आहुति स्वीकार कर हमारा बन्धन छुड़ाओ।

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे अग्ने! (सः) वह प्रसिद्ध (त्वं) तुम (नः) हमारे लिए (ऊती) अपने रक्षण के साथ (अवमः) नीचे उतरे हुव, नज़दीकी (भव) हो जाओ, (अस्याः) इस (उषसः व्युष्टौ) उषा के उदय काल में, नव प्रकाश प्राप्ति के समय में (नेदिष्ठः) हमारे अत्यन्त निकट हो जाओ। (रराणः) प्रसन्न, रममाण होते हुवे (नः) हमारे (वरुणं) वरुण पाश को, पाश बन्धन को (अवयक्ष्व) यजन द्वारा काट दो, नष्ट कर दो (मृडीकं) [हमारी इस] सुखदायक हवि को (वीहि) स्वीकार करो, (नः) हमारे लिए (सुहवः) सुगमता से बुलाने योग्य (एधि) हो जाओ।

*

* *

२५ मार्गशीर्ष

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः ।
यस्येमा प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

ऋ० १०. १२१. ४। यजु० २५. १२॥

विनय

क्या तुम पूछते हो कि हम किस देव की उपासना करें ? ये देखो, ये ऊँचे ऊँचे पर्वत, ये हिम से ढके हुवे आकाश से बातें करने वाले उन्नतशिखर पर्वत जिसकी महिमा को गा रहे हैं; यह समुद्र, यह दिग् दिगन्त तक फैला हुवा असीम दिखायी देने वाला विस्तृत समुद्र, अपने में आ आकर गिरने वाली नदियों के सहित जिसके ऐश्वर्यों का बखान कर रहा है; और ये दिशायें जिस देव की हैं, ये अनन्त दिशायें जिसके फैले हुवे बाहुओं के समान हैं; उस देव को, हे मनुष्यो ! तुम पहिचानो । ये ऊँचे खड़े हुवे गगनचुम्बी विशाल पर्वत यदि तुम्हें किसी महान् रचयिता की तरफ़ इशारा करते हुवे दिखाई

देते हैं, संसार के ये अपार पारावार अपनी लहरों में उमड़ते हुवे यदि तुम्हें किसी अद्भुत शक्ति का स्मरण दिलाते हैं, और ये प्रकृष्ट दिशायें जिसकी बाहू हैं ऐसा ध्यान करने पर यदि तुम्हें कोई विराट् पुरुष अनुभवगोचर होता है तथा इन दिशाओं में फैले हुवे संसार के देखने पर यदि तुम्हें इस सब का जीवन और प्राण होकर इसमें रमे हुवे किसी आत्मा का दर्शन होता है तो वही एक मात्र देव है जो कि हम सब का उपास्य है, आराध्य है। वह 'क' नाम का देव है, वह सुख स्वरूप है। वह प्रजापति है, हम सब के सब उसकी प्रजा हैं। आओ, हम सब प्रजाजन, हम सब पुत्र उस परम देव को नमस्कार करें, अभिमान को त्याग कर उसके चरणों में अपना मस्तक नमायें और अपने तुच्छ सर्वस्व की भी भेंट देकर उस आनन्द स्वरूप का पूजन करें।

शब्दार्थ—

(यस्य) जिसकी (महित्वा) महिमा को (इमे हिमवन्तः) ये बरफ़ीले पहाड़ (आहुः) कह रहे हैं और (यस्य) जिसकी महिमा को (रसया सह) नदियों सहित (समुद्रं) यह समुद्र कह रहा है (इमाः प्रदिशः) ये प्रकृष्ट दिशायें (यस्य) जिसकी हैं, ये दिशायें (यस्य) जिसके (बाहू) बाहू के समान हैं (कस्मै) उस सुख स्वरूप (देवाय) प्रजापति देव का हम (हविषा) हवि द्वारा (विधेम) पूजन करें।

*

* *

२६ मार्गशीर्ष

ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये
चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये। वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ ॥

यजुः ३६.१॥

विनय

हे प्रभो ! मैं पूर्ण पुरुष बनूंगा। जैसे कि तू पूर्ण है, तेरी सृष्टि पूर्ण है, वैसे ही मैं भी तेरा पूर्ण पुरुष बनूँगा। तू ने इस पूर्णता के लिए मेरे अन्दर स्वयमेव सब सामग्री जुटा रखी है। इस प्रयोजन के लिए मैं ऋक् रूप वाग्देव की शरण आऊँगा, यजुरूप मनोदेव की शरण लूँगा और सामरूप प्राण-देव की शरण पकड़ूँगा। इस प्रकार अपनी तीनों शक्तिओं को प्राप्त कर लूँगा। वाणी की भारी शक्ति को सम्पूर्ण ऋग्वेद द्वारा, सम्पूर्ण ज्ञानकाण्ड द्वारा, सम्पूर्ण श्रवण द्वारा प्राप्त कर लूँगा। सम्पूर्ण यजुर्वेद द्वारा, कर्मकाण्ड द्वारा, मन द्वारा अपनी मनः (दर्शन) शक्ति को समृद्ध कर लूँगा और अपनी प्राण शक्ति को सम्पूर्ण सामवेद, उपासनाकाण्ड और निदि-ध्यासनों द्वारा प्रदीप्त कर लूँगा। इसी प्रकार चक्षु (विज्ञान) की महान् शक्ति को, श्रोत्र की विस्तृत शक्ति को, अन्य सब इन्द्रियों और अंगों की शक्ति को प्राप्त कर लूँगा। प्रत्येक अंग की शक्ति को इतनी पूर्णता के साथ प्राप्त कर लूँगा कि मुझे उस उस अंग का ओज भी मिल जायगा। 'ओज' वह सर्वो-

त्कृष्ट शक्ति है या शक्ति का वह सर्वोत्कृष्ट रूप है जिसे आत्मिक तेज समझना चाहिए। जब मैं अपनी वाक् आदि सब इन्द्रियों का या आत्माङ्गों का ओज प्राप्त कर लूँगा तो सम्पूर्ण आत्मा का 'सह ओज' भी, सम्पूर्ण शरीर का सामूहिक तेज भी, मुझ सहज में ही प्राप्त हो जावेगा। और इस ओज प्राप्ति से मेरा जीवन परिपूर्ण जीवन हो जावेगा। परिपूर्ण जीवन में 'प्राण' और 'अपान' नाम की जो दो जीवन क्रियायें ठीक प्रकार से चला करती हैं वे मुझ में अपना ठीक काम करती हुई स्थिर रहेंगी। ये आदान और विसर्ग की क्रियायें जब जहां बिगड़ती हैं तभी वहां जीवन बिगड़ता है और ह्रास होता है। अतः मुझमें जब इन प्राणापान क्रियाओं के द्वारा शारीरिक भोजन का आदान तथा शारीरिक दोषों का विसर्ग ठीक प्रकार होता रहेगा, एवं मानसिक और आत्मिक भोजन का भी आदान तथा मानसिक और आत्मिक मलों का विसर्ग ठीक प्रकार होता रहेगा, तो उस समय मेरा जीवन (शारीरिक, मानसिक और आत्मिक जीवन) परिपूर्ण जीवन बन जायेगा, और हे प्रभो ? मैं तेरा परिपूर्ण पुरुष कहला सकूँगा।

शब्दार्थ—

मैं (ऋचं वाचं) ऋक रूप वाक् को (प्रपद्ये) प्राप्त करता हूँ, (मनः यजुः) यजु रूप मन को (प्रपद्ये) प्राप्त करता हूँ (साम प्राणं) सामरूप प्राण को (प्रपद्ये) प्राप्त करता हूँ और (चक्षु श्रोत्रं) चक्षु श्रोत्र आदि को (प्रपद्ये) प्राप्त करता हूँ। ये (वाक्) वाक्शक्ति आदि (ओजः) वाक् आदि का ओज तथा (सह ओजः) इनका इकट्ठा ओज (प्राणापानौ) एवं प्राणन अपानन क्रिया, आदान और विसर्ग क्रिया (मयि) मुझ में होवें, ठीक प्रकार होती रहें।

२७ मार्गशीर्ष

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं
बृहस्पति र्मे तद्धातु । शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥

यजु० ३६.२॥

विनय

मैंने जो अपनी ओर दृष्टि फेरी है, अपने को टटोला है तो मैं देखता हूँ कि मुझ में त्रुटियां ही त्रुटियां हैं, मैं दोषों से भरा हुवा हूँ। जब तक मैंने अपने को नहीं देखा था तब तक मैं भी अन्य दुनियावी लोगों की तरह व्यर्थ में औरों को बुरा भला कहता हुवा सन्तुष्ट फिरता था। पर आज आत्मनिरीक्षण करने पर अपनी आंख आदि बाह्यकरणों (इन्द्रियों) की रोग अशक्ति आदि विकलताओं को तथा इनकी प्रसिद्ध सदोषताओं को तो मैं अनुभव करता ही हूँ, किन्तु जब मैं अपने अन्दर अधिक घुसता हूँ और अपने मन के तथा हृदय (बुद्धि) के जख्मों को, गहरे घावों को देखता हूं तो मैं घबरा जाता हूं। ओह ! मेरा मन कितना मलिन है, कितना दुर्बल है, मेरी बुद्धि कितनी विकृत है ? अपने इन अन्दर के कारणों की इस भयंकर दुर्दशा को, इन भयंकर कमिओं को देखकर मैं प्रायः निराश हो जाता हूँ। सोचने लगता हूं कि क्या मेरी

ये कमियां कभी ठीक भी हो सकती हैं या नहीं ? इसलिये हे बृहस्पते ! ज्ञानपते ! तुम ही कृपा करो कि मेरी इन न्यूनताओं को, मेरे इन जख्मों को, शीघ्र भर दो। तुम इस बृहत् जगत् के पालक रक्षक हो। तुम मेरी भी रक्षा करो। इस जगत् का, इस भुवन का जो भी कोई पति है क्या उसने हम को रचकर हमारी रक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं किया है ? नहीं, हे बृहस्पते ! भुवनपते ! तुम्हारे ध्यान विचार से मिलने वाले शक्ति प्रवाह से हमारे असंख्यों छिद्र और हमारी भारी से भारी कमियां एक बार में ठीक हो सकती हैं। इसलिये हे ज्ञानपते ! तुम अब मेरी सब हीनताओं को पूरा कर दो। मेरे ही लिये नहीं किन्तु हम सब, मनुष्यमात्र के लिये कल्याणकारी होओ। तुम सबके धारण करने वाले हो। सब बिगड़ों को बनाने वाले हो। मैं अपने आप में तो सर्वथा अशक्त हूं, कुछ भी नहीं कर सकता हूँ। तुम्हीं, हे बृहस्पते ! जब मेरी सब त्रुटिओं को भर दोगे, मेरी सब न्यूनताओं को पूर दोगे, तभी मैं पूर्ण पुरुष बन सकूंगा।

शदार्थ—

(मे) मेरे (चक्षुषः) आंख की, बाह्येन्द्रियों की (यत्) जो (छिद्रं) छिद्र, दोष, न्यूनता है, और (हृदयस्य) हृदय का, बुद्धि का (मनसो वा) अथवा मन का जो (अतितृण्णम्) गहरा घाव है (मे) मेरे (तत्) उसे छिद्र, घाव को (बृहस्पतिः) बृहत् संसार का ज्ञानमय पालक परमेश्वर (दधातु) ठीक कर देवे। (यः) जो (भुवनस्य) जगत् का (पतिः) स्वामी है वह (नः) हमारे लिए (शं) कल्याण कारी (भवतु) होवे।

*

* *

मन्ये त्वा यज्ञियं यज्ञियानां मन्ये त्वा च्यवनं अच्युतानाम्।
मन्ये त्वा सत्वनामिन्द्र केतुं मन्ये त्वा वृषभं चर्षणीनाम्॥

ऋक्० ८. ९६. ४॥

विनय

हे इन्द्र! मैंने तुझे जाना है, पहिचाना है, मैं तुझे यज्ञियों का यज्ञिय करके देख रहा हूँ। इस संसार में जो भी ठीक यज्ञ चल रहे हैं, उन असंख्यातों यज्ञों द्वारा बेशक असंख्यातों देवों का यजन किया जा रहा है, किन्तु वे सब के सब यज्ञ और यजनीय अन्त में जिसका यजन कर रहे हैं वह एक देवों का देव तू ही है। वह यज्ञ ही नहीं है जिसका कि अन्तिम ध्येय तू नहीं है। और मैं देखता हूँ कि अच्युतों का भी च्यवन तू है। संसार के लोग जिन्हें बहुत ध्रुव और स्थायी

समझते हैं उन्हें तू क्षणभर में च्युत कर सकता है। अपने को अचल समझने वाले बड़े बड़े अभिमानी सम्राटों के सिंहासनों को तू पल मारते में धूलि में मिला देता है, बड़े बड़े स्थिर पहाड़ों को तू एक भूकम्प से पृथ्वी के समतल कर देता है, और लाखों वर्षों की उमर वाले सम्पूर्ण के सम्पूर्ण ग्रहों को तू कभी एक टक्कर से चकना चूर कर देता है। तेरी शक्ति की हम जीव लोग कल्पना तक नहीं कर सकते हैं। हम प्राणिओं में जो थोड़ी बहुत बलराशि, सत्व दिखाई देता है, उस बल-राशि में तू हम से बहुत ऊँचा उठा हुवा है, केतु रूप है। जैसे अपने आदर्श सूचक झंडे को देख कर उसके उपासक उससे नवोत्साह प्राप्त करते हैं वैसे मैं तुझ उन्नत अनन्त बल को देख कर अपने में महान् शक्ति संचार को प्राप्त करता हूँ। तू हमारा 'सत्वों का केतु' है। तू बल (सत्व) का आदर्श है, और प्राणि (सत्व) त्व या पुरुषत्व तुझ में पराकाष्ठा को पहुँचा हुवा है। इसलिये तू 'पुरुषोत्तम' है, मनुष्यों का 'वृषभ' है। पुरुष होकर भी तू हम से इतना उत्तम है, इतना ऊंचा उठा हुवा है कि तू ऊपर से हम सब प्राणियों पर इष्ट फलों की वर्षा कर रहा है। संसार में जो असंख्यतों प्राणियों की प्रति-क्षण असंख्यातों इच्छायें पूर्ण हो रही हैं उन्हें तू ही ऊपर से बरसा रहा है। अज्ञानी लोग समझते हैं कि हमारी इच्छा पूर्ण करने वाला यह पुरुष है या वह पुरुष है, दूसरे लोग समझते हैं कि हमारी इच्छा पूर्ति करने वाला हमारा ज्ञान है, हमारा बल है या धन है। परन्तु हे इन्द्र! मैं तो अनुभव करता हूँ कि सब मनुष्यों की सब इच्छा पूर्ति करने वाला तू ही है, एक मात्र तू ही है।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे इन्द्र ! मैं (त्वा) तुझे (यज्ञियानांयज्ञियं) यज्ञार्हों का यज्ञार्ह (मन्ये) मानता हूं, (त्वा) तुझे (अच्युतानां च्यवनं) च्युत न होने वालों का भी च्यावयिता (मन्ये) मानता हूं। (त्वा) तुझे (सत्वनां) बलशाली प्राणियों में (केतुं) बहुत ऊँचा उठा हुवा, झंडा (मन्ये) देखता हूं, और (त्वा) तुझे (चर्षणीनां) मनुष्यों का (वृषभं) सब कामनाओं का देने वाला, बरसाने वाला (मन्ये) अनुभव करता हूं।

❀

❀ ❀

२६ मार्गशीर्ष

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुधितो गर्भिणीषु ।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥

ऋ० ३. २९. २॥ साम पू० १. २. ८. ७॥

विनय

तुम कहते हो कि आत्मा दिखाई नहीं देता । पर यदि तुम इसे देखना चाहते हो तो तुम इस आत्माग्नि को प्रज्वलित क्यों नहीं कर लेते ? अरणि में या दियासलाई में विद्यमान भौतिक अग्नि भी तो तब तक दिखलाई नहीं देता है जब तक कि मन्थन (रगड़ने) द्वारा उसे प्रज्वलित नहीं कर दिया जाता । तुम ज़रा अपने आप रूपी दियासलाई या अरणि से प्रणव (ईश्वर नाम) रूपी (दियासलाई की) डिब्बी या उत्तरारणि पर ध्यान रूपी मन्थन करके देखो, तो तुम देखोगे कि तुम्हारा आत्माग्नि चमक उठेगा, जातवेदा जाग उठेगा ।

अरे! योग रूपी अरणि और स्वाध्याय रूपी उत्तरारणि के सम्बन्ध से तो अन्तःकरण में परमात्मा तक प्रकाशित हो जाता है। यह ठीक है कि प्रारम्भ में यह आत्मज्योति एक चिनगारी के रूप में ही प्रकट होती है। अतएव इस आत्म-ज्योति की इस समय इतनी अच्छी तरह रक्षा करनी चाहिये, जैसे कि गर्भिणी स्त्री अपने गर्भ की रक्षा करती है। पर क्या हम अपने इस ज्ञानगर्भ की कुछ रक्षा करते हैं? ओह! हम तो न जानते हुवे बड़े भारी गर्भपात के पापभागी हो रहे हैं। जैसे माता पिता रूपी अरणिओं से प्रकट हुई सन्तान रूपी अग्नि प्रारम्भ में गर्भावस्था में होती है, वैसे ही हम सब मनुष्य शरीर पाने वालों के अन्दर जन्म से आत्मज्योति गर्भित रहती है, जो कि हम में जीव के मनुष्य-योनि सम्बन्ध से उत्पन्न हुई है। पर हम लोग इस गर्भित 'सुधित' ज्योति को पालित पोषित कर बढ़ाने की जगह भोगादि में पड़ कर इसे दबा देते हैं, इस सुरक्षित गर्भ को विनष्ट कर देते हैं। ओह! हम कितना भारी भ्रूणहत्या का पाप करते हैं! पुण्यात्मा हैं वे पुरुष जो इस गर्भित आत्मज्योति को बढ़ा कर इस द्वारा अपने आप को जगाते हैं, ज्ञानोपार्जन रूपी समिधा-धानों से इस शिशु अग्नि को प्रज्वलित करते हैं और 'जागृवत्' होते हैं तथा जो घृताहुति रूपी आत्मबलिदानों को दे देकर इस अग्नि को प्रचण्ड भी कर लेते हैं, 'हविष्मत्' होते हैं। संसार के महात्माओं को देखो, इन्होंने इसी प्रकार अपने में जातवेदा की चिनगारी को इतना बढ़ाया है कि वे आज सब कुछ भस्म कर सकने वाले महानल हो गये है, महाशक्ति, महात्मा हो गये हैं। ये देखो! जागृवान्, हविष्मान् मनुष्य

अपनी इस प्रज्वलित आत्माग्नि का प्रति दिन भजन स्तुवन कर रहे हैं, इसे और और बढ़ा रहे हैं। इनके अन्दर ये आत्मदेव निरन्तर ज्ञानों और बलिदानों द्वारा पूजित और पोषित हो रहे हैं। उठो मनुष्यो! तुम भी अपनी आत्माग्नि को बढ़ाओ, और जागृत होकर तथा हवि हाथ में लेकर इस आत्माग्नि को नित्य अधिक अधिक प्रदीप्त करते जाओ।

शब्दार्थ—

(**जातवेदाः**) ज्ञान व ऐश्वर्य वाला अग्नि (**अरण्योः**) अरणिओं में (**निहितः**) छिपा हुवा होता है और यह वहां (**गर्भिणीषु गर्भइव**) गर्भिणिओं में गर्भ की तरह (**सुधितः**) अच्छी प्रकार धारित, सुरक्षित होता है। (**अग्निः**) यह अग्नि देव (**जागृवद्भिः**) जागने वाले, ज्ञानयुक्त (**हविष्मद्भिः**) हवि वाले, आत्मत्यागी (**मनुष्येभिः**) मनुष्यों द्वारा तो (**दिवे दिवे**) प्रति दिन ही (**ईड्यः**) पूजित व प्रार्थित होता है।

*

* *

याद रखो

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः

ऋग्वेद ४.३३.११

बिना स्वयं परिश्रम किये,

बिना थके, देवों की

मैत्री नहीं

मिलती

है

पौष मास

पौष (धनु)
के लिये
प्राणदायक व्यायाम
घुटने तथा टांगों को स्वस्थ करने वाला

दोनों पावों को मिलाकर सीधे खड़े हो जाइये, पांव के अंगूठे ज़रा से बाहर की ओर घूमे हुवे हों, भुजायें सीधी लटकती रहें, हथेलियां बाहर की ओर हों। बाहु और टांगों की मांस पेशिओं को खूब तान लीजिये। अब कूल्हों के ऊपरी भाग द्वारा टांग की मांस पेशिओं को ज़ोर से अपनी तरफ़ खींचते हुवे दायें पैर को भूमि से ऊपर उठाइये। टांग को घुटने पर ज़रा भी झुकने न दीजिये और नांही पाँव को इधर उधर हिलने दीजिये, इस मांस पेशिओं के खिंचाव के द्वारा ही दायीं टांग इतनी सुकड़ जावे कि यह पैर भूमि से दो तीन

इंच ऊपर उठ जावे। दाहिने पांव को टेक कर, फिर यही व्यायाम बायें पैर से कीजिये, अर्थात् बायें पैर को अच्छी तरह तानते हुवे ऊपर उठाइये। इस प्रकार कई बार कीजिये। जब पैर ऊपर उठे तो श्वास अन्दर भरिये और जब नीचे जावे तो श्वास बाहर निकालिये। स्मरण रखिये कि शरीर लगातार सीधा रहे और इधर उधर हिले जुले नहीं। इस व्यायाम को करते हुवे टांगों और घुटनों पर अपने मन को केन्द्रित कीजिये।

इस प्रकार का ध्यान कीजिये।

ध्यान—"मैं स्फूर्त्ति और शक्ति से परिपूर्ण हो रहा हूँ। यह व्यायाम मुझे नवीन ओज और जीवन प्रदान कर रहा है।......"

इन अंगों को गौणतया चैत्र, आषाढ़ और आश्विन के व्यायामों द्वारा भी लाभ पहुँच सकता है।

*

* *

त्वद् विश्वा सुभग सौभगान्यग्ने वियन्ति वनिनो न वयाः।
श्रुष्टी रयि र्वाजो वृत्रतूर्ये दिवोवृष्टिरीड्यो रीतिरपाम् ॥
ऋ० ६.१३.१॥

विनय

हम कितने मूर्ख हैं कि मूल को न सींचकर पत्तों को पानी दे रहे हैं। हे अग्ने! तुम तो सब सौभगों के कल्पतरु हो। परन्तु हम एक तुम्हारा सेवन न कर अनगिनतों अपनी इच्छाओं के, इष्ट वस्तुओं के पीछे मारे मारे फिर रहे हैं। इस संसार में जो भी कुछ विविध प्रकार के सौभाग्य के सामान दृष्टिगोचर हो रहे हैं, जो भी कुछ सुन्दर ऐश्वर्य दीख रहे हैं वे सब के सब एक तुमसे ही निकले हैं। तुमसे ही सर्वत्र फैले हैं। यह विश्व जिन अनन्तों प्रकार की सुन्दर सम्पत्तिओं से भरा पड़ा है उन सब के मूल में, हे सुभग! तुम ही हो। यदि हम एक तुम्हारी उपासना करें, तो हमारी शेष सब उपास्य वस्तुएँ हमें स्वयमेव मिल जांय, तुम वृक्ष के प्राप्त करने से शेष शाखा डाली पुष्प फल आदि सब कुछ हमें स्वयमेव प्राप्त हो जाय। एक तुम्हारे सुभग सेवन से हमें सब सौभग मिल जावें, केवल इतना ही नहीं, किन्तु ये सौभग, ये सुन्दर ऐश्वर्य हमें ठीक प्रकार से, ठीक प्रमाण में मिल जावेंगे। जब हम तेरा सेवन करेंगे तो हमें जब जिस ऐश्वर्य की, जिस क्रम से,

जिस मात्रा में आवश्यकता होगी तभी वह ऐश्वर्य उसी क्रम उसी मात्रा में हमें ठीक ठीक मिलता जावेगा और बड़ी शीघ्रता से तुरन्त मिलता जावेगा। तेरे भजनेवाले को सब भौतिक धन, उसकी पार्थिव (शारीरिक) आवश्यकताओं की पूर्त्ति के सब साधन शीघ्र ही मिल जाते हैं। उसे बल, पाप के नाश के लिये, पाप से लड़ने के लिये, जीवन संघर्ष में विजयी होने के लिये जिस बल तेज सामर्थ्य की आवश्यकता है वह भी उसे ठीक समय पर मिल जाता है। इसके बाद उसे अन्तरिक्ष लोक की वृष्टि, मानसिक लोक की दुर्लभ महान् संतुष्टि, आनन्द व तृप्ति प्राप्त हो जाती हैं। और यह दिव्य वृष्टि ही नहीं, किन्तु इन दिव्य जलों की प्रेरक, इनको गति देने वाली जो स्तुत्य जगद्‌वन्द्य दिव्य ज्योति है वह आदित्य ज्योति भी अन्त में उन्हें मिल जाती है। इस प्रकार एक से एक ऊँचे ऐश्वर्य, पार्थिव आन्तरिक्ष और दिव्य (आत्मिक) आदि सम्पूर्ण ऐश्वर्य, एक तेरा ही सेवन करते जाने वाले को पूरी तरह मिल जाते हैं। फिर भी हम मूर्ख न जाने क्यों तेरे ही एक सेवन में नहीं लगते, एक तुझ मूल का आश्रय नहीं पकड़ते।

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे अग्ने! (सुभग) हे सुन्दर ऐश्वर्य वाले! (त्वत्) तुझसे ही (विश्वा) सब (सौभगानि) सुन्दर ऐश्वर्य (वियन्ति) विविध प्रकार से निकलते हैं, (वनिनः न) जैसे वृक्ष से (वयाः) शाखायें [विविध प्रकार से निकलती हैं]। तुझ वृक्ष का सेवन करने वालों को (श्रुष्टी) शीघ्र ही (रयिः) भौतिक धन (वृत्रतूर्ये वाजः) युद्ध में बल (दिवः वृष्टिः) अन्तरिक्ष की दिव्य वृष्टि तथा (अपां रीतिः) इन जलों को गति देनेवाली (ईड्यः) स्तुत्य ज्योति प्राप्त हो जाती है।

क्व स्य ते रुद्र मृडयाकु र्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः ।
अपभर्त्ता रपसो दैवस्य, अभी नु मा वृषभ चक्षमीथाः ॥

ऋ० २. ३३. ७॥

विनय

मैंने बेशक बहुत अपराध किये हैं। उन्हीं का फल भोगता हुवा मैं आज इतना दुःखी हूँ, आर्त हूँ, रोगग्रस्त हूँ। परन्तु हे रुद्र ! मैं जानता हूँ कि तुम जहां ताड़ना करते हो, वहां प्रेम भी करते हो। तुम रुद्र हो, तो वृषभ भी हो। तुम कभी तुरन्त दण्ड देते हो, तो कभी सहन (क्षमा) भी करते हो। तुम्हारा कठोर हाथ जहां हमें ताड़ना करता है, वहां तुम्हारा करुणा हाथ कभी हमें प्रेम भी दिखलाता है। मैं आज तुम्हारे उस भयदायक हस्त का तो अच्छी तरह अनुभव करता हूँ जो कि उग्ररूप होकर हमारा दण्डविधान करता है। परन्तु मैं जानता हूँ कि तुम्हारा वह दूसरा 'मृडयाकु' सुखदायक हस्त भी है जो कि कल्याण रूप होकर हमें शान्ति और सान्त्वना प्रदान करता है। मैंने अवश्य देवों के प्रति अक्षम्य पाप किये

हैं, किन्तु मैं दुःख भी वहुत भोग चुका हूँ। अब तो मैं दुर्बल अधिक ताड़ना को नहीं सह सकता, इसलिये, हे कामनाओं के पूरा करने वाले! हे सुखवर्षक! तुम्हीं मुझे सहन करो, क्षमा करो। मेरा यह सच्चा पश्चात्ताप मुझे अब पाप में पड़ने से बचावेगा। इन असह्य पीड़ाओं ने मुझे पाप की दुःखरूपता अनुभव करा दी है। इसलिये मैं अब सहनीय हूँ, तुम्हारी क्षमा का पात्र हूँ। इस समय तो तुम मुझे अपने उस दूसरे करुणा हस्त का ही अनुभव कराओ। तुम सच्चे वैद्य हो, तुम ही पूर्ण चिकित्सक हो। आः! तुम्हारा वह सुखदायक हस्त कहां है जो कि औषधमय है, जो कि आनन्दजनक है? तुम्हारा वह 'मृडयाकु' हस्त कहां है जो कि मेरे इस दैव्य पाप को शमन कर देगा, जो कि मेरे इस पाप रोग को दूर कर देगा? मुझे तो अब अपने इसी हस्त का संस्पर्श कराओ। हे वृषभ! मुझे अब क्षमा करो, और अपने इसी सुखहस्त का अनुभव कराओ।

शब्दार्थ—

(रुद्र) हे रुद्र! दुःख रोग नाशक! (ते) तेरा (स्यः) वह (मृडयाकुः) सुखदायक (हस्तः) हाथ (क्व) कहां है, (यः) जो कि (भेषजः) औषधमय और (जलाषः) आनन्दजनक (अस्ति) है, जो (दैवस्य) देवसम्बन्धी (रपसः) पाप का, रोग का (अपभर्ता) दूर करने वाला है? (वृषभ) हे सुखवर्षक! तू (नु) अब तो (मा) मुझे (अभिचक्षमीथाः) क्षमा कर, सहन कर।

*

* *

यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा देवो देवेष्वरतिर्निधायि ।
होता यजिष्ठो मह्ना शुचध्यै हव्यैरग्नि र्मनुष ईरयध्यै ॥

ऋक ४. २. १॥

विनय

यह आत्माग्नि हम में और किस लिए रखा हुआ है? मट्टी हो जाने वाले हम मर्त्यों में जो यह कभी न मरने वाला एक अमृत तत्त्व, सच्चा, सत्यरूप, 'आत्मा' कहलाने वाला एक तत्व, निहित है, इन इन्द्रिय आदि देवों के बीच में जो यह एक देव, इन सब देवों में असंग रूप से गया हुआ एक अमर देव रखा हुआ है, यह और किस प्रयोजन के लिए है? निस्संदेह यह इसीलिए है कि यह हम में बढ़े, प्रदीप्त होवे,

अपनी महिमा द्वारा विविध प्रकार से प्रदीप्त होवे। यह जीवन इसीलिए है कि इस द्वारा आत्मा अपने आप को विकसित कर सके। यह संसार इसीलिए है कि इस में आत्माग्नि अपना अधिक से अधिक प्रकाश कर सके; अपनी महान् महिमा द्वारा अद्भुत सामर्थ्य द्वारा, अपने दिव्य ऐश्वर्यों द्वारा अपने आप को अधिक से अधिक प्रकाशित कर सके। इसीलिए यह आत्मा 'होता' बना है, दान आदान करने वाला हुवा है। आत्मा के लिए हम जो कुछ बलिदान करते हैं उस से हज़ारों गुणा आदान उसके विविध ऐश्वर्यों के रूप में हमें प्राप्त होता है। इसलिए यह आत्मा ही यजिष्ठ, सर्वश्रेष्ठ यजनीय है। इसका ही यजन कर के हमें आत्मिक सामर्थ्यों और आत्मिक ऐश्वर्यों में अपने को प्रदीप्त करना चाहिए। किन्तु आत्मा से यह अद्भुत सामर्थ्यों, दिव्य ऐश्वर्यों का आदान तभी हो सकता है जब कि हम आत्मा के लिए दान, आत्मबलिदान करते रहें। ओः यह दिव्य अग्नि तो मनुष्य को आत्मबलिदान के लिए निरन्तर प्रेरित भी कर रहा है। यह बाह्य अग्निहोत्र का अग्नि यदि हमें कुछ प्रिय लगता है, यदि इसके प्रति हमें कुछ आकर्षण होता है, तो इससे सहस्रों गुणा प्रिय और आकर्षक यह अपना अन्दर का आत्माग्नि है ? यह प्यारा आत्मा जब दीख जाता है तब तो मनुष्य पृथ्वी भर को स्वाहा करके भी इस के प्रेम को पाना चाहता है। इसकी ज्योति इतनी प्यारी है कि उसके दर्शन मात्र से मनुष्य शेष सब अनात्म संसार को एकदम बलिदान कर देने के लिए उत्कंठित हो जाता है। इसलिए भाइओ ! ज़रा देखो ! अन्दर देखो ! तुम में प्रदीप्त होने की ही प्रतीक्षा में यह तुम्हारा आत्माग्नि निहित है, क्या तुम इसे प्रदीप्त

नहीं करोगे ? यह अमृत तुम्हें निरन्तर बलिदान (यजन) के लिए प्रेरित कर रहा है, क्या तुम उसकी बात नहीं सुनोगे ?

शब्दार्थ—

(**यः**) जो (**मर्त्येषु**) मरणशील मनुष्यों में (**अमृतः**) कभी न मरने वाला (**ऋतावा**) सत्यरूप हो कर और (**देवेषु**) इन्द्रियादि देवों के बीच में (**अरतिः देवः**) उन में असंगरूप से गया हुवा एक देव होकर (**निधायि**) निहित है। वह (**होता**) दान आदान करने वाला (**यजिष्ठः**) सर्व श्रेष्ठ यजनीय (**अग्निः**) आत्माग्नि हम में (**मह्ना**) अपनी महिमा द्वारा (**शुचध्यै**) प्रदीप्त होने के लिए ही [निहित है] और (**मनुषः**) मनुष्य को (**हव्यैः**) आत्म-हवनों से [यजन की] (**ईरयध्यै**) प्रेरणा करने के लिये ही निहित है।

*

* *

नाहमतो निरया दुर्गहैतत्, तिरश्चिता पार्श्वान्निर्गमाणि ।
बहूनि मे अकृता कर्त्त्वानि युध्यै त्वेन सं त्वेन पृच्छै ॥

ऋक्० ४.१८.२॥

विनय

इस दुनियावी पगडंडियों वाले रास्ते से मैं नहीं चलूँगा, जिससे संसार चलता है। मैं तो सीधा अपने लक्ष्य पर पहुँचूँगा। मैं मामूली मनुष्य नहीं हूँ, मैं श्रेष्ठ देव हूँ। मैं भोग भोगने आया हुवा पृथिवी पर रेंगने वाला कोई संसारी कीड़ा नहीं हूँ, मैं परब्रह्म की तरफ़ वेग से उड़ने वाला अदम्य आत्मा हूँ, सांसारिक सुखों के पीछे फिरना और वहां नाना दुःख भोगना—इस रास्ते को मैं नहीं पकड़ूंगा। मेरे लिये यह बड़ा दुःखप्रद है। इस संसार रूपी बड़े भारी गर्भ में अन्य संसा-

रिओं की तरह पकने के लिये मैं अपरिमित समय तक पड़ा नहीं रह सकता, मैं तो अभी इस संसार बन्धन से बाहर निकलूँगा, मुक्त होऊँगा। मैं सांसारिक सुखों की दुःखरूपता को जानता हूँ। मैं ज्ञानी हुवा हूँ, मैं अब इनमें नीचे नहीं उतरूँगा। मैं तो सीधा चलूँगा, सामने के पार्श्व को तोड़ कर, दीवार को फोड़ कर सीधा बाहर निकलूँगा। तुम मुझे बेशक चले रास्ते से ही चलने को कहते रहो, पर मैं तो धारा को चीर कर, पहाड़ को लांघ कर सीधा अपने लक्ष्य पर पहुंचूँगा। तुम कहते हो कि यह असम्भव है, पर मैं कहता हूँ कि मैंने तो अभी बहुत से ऐसे कार्य करने हैं जो कि दुनिया के लिये नये हैं। मैं आश्रम क्रम से न चल कर अभी सीधा संन्यासी बनूँगा। इस संसार में पूर्ण ब्रह्मचारी होना असम्भव समझा जाता है, पर मैं पूर्ण रूप में ब्रह्मचारी बनूँगा। अपने से राग, द्वेष को बिलकुल निकाल देना बेशक समुद्र को सुखा देना है, पर मैं इस प्रकार रागद्वेष से सर्वथा रहित भी होऊँगा। तुम बेशक मुझे संसार के बनाये रास्तों से ही चलने को और धीमे धीमे चलने को कहते हो, पर मैं तो सब संसार से उलटा चलूँगा। मैं संसार भर से लड़ूँगा। हां, जहां मैं इस सब संसार से लड़ूँगा, वहां प्रभु के सामने झुकूँगा। जहां एक तरफ़ इस मत्त संसार से लड़ाई ठानूँगा, पग पग पर भिड़ूँगा; वहां दूसरी तरफ़ अपने परम गुरु से नम्र भाव से पूछूँगा, शिष्य भाव से उपदेश प्राप्त करूँगा। एवं उस प्रभु की तरफ़ वेग से आकर्षित होता हुवा और प्रभु के उस प्रबल आकर्षण में मार्ग की सब विघ्न बाधाओं को विनष्ट करता हुवा मैं अभी इस संसार-कारागार से बाहर निकलूँगा, मोक्ष प्राप्त करूँगा।

शब्दार्थ—

(अहं) मैं (अतः) इस संसारी रास्ते से (न निरयाः) नहीं निकलूँगा । (एतत् दुर्गहा) यह मेरे लिये कठिन है, दुर्ग्रह है । मैं तो (तिरश्चिता) सीधे मार्ग से (पार्श्वात्) सामने के पार्श्व से ही (निर्गमाणि) भेदन करके निकल जाऊँगा । मैंने तो (बहूनि) ऐसे बहुत से (अकृता) अभी तक किसी से न किये गये कर्मों को (कर्त्वानि) करना है । (त्वेन) एक से मैं (युध्यै) लडूंगा, जब कि (त्वेन) एक से, दूसरे से (संपृच्छयै) मैं पूछूँगा, नम्र होकर उपदेश प्राप्त करूँगा ।

*

* *

त्वं महीमवनिं विश्वधेनां तुर्वीतये वय्याय क्षरन्तीम् ।
अरमयो नमसैजदर्णः सुतरणाँ अकृणोः इन्द्र सिन्धून् ॥

ऋ० ४. १९.६ ।

विनय

'हे इन्द्र ! तू उसकी सहायता करता है जो अपनी सहायता अपने आप करता है ।' इसलिए जो मनुष्य स्वयमेव अपनी विघ्न बाधाओं को हटाने वाला, अपने मार्ग के शत्रुओं का विनाश करने वाला 'तुर्वीति' होता है, उस के लिए तू मार्ग साफ़ कर देता है । परन्तु ऐसा मनुष्य दूसरों से प्राप्तव्य वाञ्छनीय 'वय्य' भी अवश्य होता है । तेरा भक्त कभी केवल विनाश करने वाला घोर नहीं होता है, किन्तु दूसरों का सहारा सौम्य भी अवश्य होता है । जो तेरा सच्चा भक्त है वह जहां मार्ग के राक्षसों, असुरों का संहार करने वाला होता है, वहां

वह जनता की सेवा करने वाला, उनका आश्रय, प्रेमभाजन भी अवश्य होता है। ऐसे अपने सच्चे उत्कृष्ट भक्त के लिये, हे इन्द्र ! तू कुछ उठा नहीं रखता है। इस 'तुर्वीति' और 'वय्य' पुरुष के लिये तू इस महान् पृथ्वी को अभीष्ट फल दुहने वाली एक बड़ी गौ बना देता है और बड़े से बड़े समुद्रों को 'सुतरण' कर देता है। उसके मार्ग में चाहे स्थल आवे या जल, तू किसी वस्तु को बाधक नहीं रहने देता। जब मनुष्य 'तुर्वीति' और 'वय्य' होकर तुझे पाने निकलता है, तेरे पन्थ का पथिक बनता है तो उसके राह में खड़ी हुई बड़ी से बड़ी पार्थिव बाधाओं को तू बाधायें नहीं होने देता, किन्तु अपनी कृपा से उन्हें सब कुछ देने वाली, अपेक्षित आवश्यकताओं को पूरा करने वाली विविध सहायताओं के रूप में बदल देता है। उसके मार्ग में पड़ने वाले बड़े से बड़े तूफ़ानी समुद्रों को तू अपने 'नमः' द्वारा शान्त कर देता है। मानो क्रुद्ध से क्रुद्ध उत्तेजित समुद्रों को अपने 'नमः' नामक सब को नमाने वाले शान्ति-वज्र द्वारा तू शान्त, रममाण, प्रसन्न कर देता है, और तब उनके जल उस भक्त को डुबा देने की जगह उसे पार तराने में सहायक हो जाते हैं। यह सब, हे इन्द्र ! तेरी महिमा है, तेरी अपने भक्तों के प्रति करुणा है। नहीं, मैं कहूँगा कि यह सब 'तुर्वीति और वय्य' होने का सामर्थ्य है, तेरे ऐसे उत्कृष्ट भक्त बनने का माहात्म्य है।

निःसंदेह, हे इन्द्र ! तुम हमें भी विपत्तिओं के भारी से भारी पहाड़ों को लंघा दोगे, भयंकर से भयंकर समुद्रों को तरा दोगे, बस केवल हमारे 'तुर्वीति वय्य' बनने की देरी है, बस तुम्हारे ऐसे पूरे भक्त बनने की दरी है।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे इन्द्र ! (त्वं) तू (तुर्वीतये) शत्रुओं का नाश करने वाले के लिये (वय्याय) और दूसरों से प्राप्तव्य, वांछनीय भक्त पुरुष के लिये (महीं अवनीं) इस महती पृथ्वी को (विश्वधेनां) सब कुछ देने वाली, सब प्रकार से प्रीणन करने वाली और (क्षरन्तीं) अभीष्ट फलों को प्राप्त कराने वाली, उनसे पूरित करने वाली [बना देता है] तथा (एजत्) बहुत उछलते हुये, तूफ़ानी (अर्णः) समुद्र-जल को (नमसा) अपने नमः द्वारा, वज्र द्वारा (अरमयः) रम-माण, शान्त कर देता है, एवं (सिन्धून्) समुद्रों को (सुतरणान्) सुगमता से तरने योग्य (अकृणोः) कर देता है ।

प्र ते पूर्वाणि करणानि विप्र, आविद्वाँ आह विदुषे करांसि ।
यथा यथा वृष्ण्यानि स्वगूर्त्ता अपांसि राजन् नर्य्याविवेषीः ॥

ऋक् ४. १९. १०॥

विनय

हे इन्द्र ! तुम हमारे कर्मों में भी बसते हो। परन्तु तुम्हारा निवास हमारे उन्हीं श्रेष्ठ कर्मों में होता है जो कि स्वयं हमारे अन्दर से निकले 'स्वगूर्त्त' होते हैं, जो कि सब नरों के हित-कारी 'नर्य' होते हैं और जो कि बलकारक (शक्ति बढ़ाने वाले) 'वृष्ण्य' कर्म होते हैं। यों कहना चाहिए कि तुम्हारे निवास के कारण ही हमारे कर्मों में यह श्रेष्ठता और शक्ति उत्पन्न होती है। धन्य हैं वे पुरुष जिनके कर्मों में तुम इस प्रकार व्यापते हो, आविष्ट होते हो। हे राजन् ! ज्यों-ज्यों तुम किसी मनुष्य के कर्मों में इस प्रकार विराजने लगते हो, त्यों-त्यों उसका कर्म-सामर्थ्य बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसके कर्म का प्रभाव अधिक अधिक क्षेत्र को घेरता जाता है। अन्त में

उसका मानसिक कर्म, उसका ज्ञान अत्यन्त व्यापक और तेजस्वी हो जाता है, उसके ज्ञान-कर्म में भी तुम्हारा निवास हो जाता है। अतः वही मनुष्य होता है जो कि ठीक ठीक कर्तव्य कर्मों को जान सकता है, और दूसरों को बतला सकता है। क्योंकि तब वह हे विप्र! तुम्हारे पूर्व करणों का भी पूरा जानने वाला 'आविद्वान्' हो जाता है। तुम्हारा जो इस संसार में सनातन कर्म चल रहा है और वह जिन सनातन शुद्ध साधनों, करणों, से चल रहा है उसे वह साक्षात् जानने लगता है। अतः वही बता सकता है कि अमुक समय में कर्त्तव्य कर्म क्या है, वही दूसरों का पथप्रदर्शक हो सकता है, वही सच्चे ज्ञान का उपदेष्टा हो सकता है, वही है जो सच्चे अर्थों में भविष्यद् वाणी कर सकता है, तेरे सनातन करणों के जानने के कारण बता सकता है कि तेरी सृष्टि में अब तेरा क्या कर्म होने वाला है। निःसंदेह ये बातें आम लोगों से करने की नहीं होती। 'आविद्वान्' की इन बातों को विद्वान् ही समझ सकता है। विद्वान् पुरुष ही परस्पर, हे सर्वज्ञ! तेरे इन करणों व करणीयों की कथा चर्चा किया करते हैं। पर यह तो ठीक है कि ज्ञान की यह उच्च अवस्था उन्हीं पुरुषों को प्राप्त होती है जिन के कर्मों में तुम्हारा निवास हो जाता है। जितना जितना किसी के कर्म तुम से व्याप्त होने लगते हैं, उतना उतना ही उसमें सच्चा ज्ञान प्रकट होने लगता है इसीलिए, हे मनुष्यो! देखो ज्ञान के साथ कर्म के इस सम्बन्ध को देखो। देखो, अपने कर्मों को बिना विशुद्ध किए कोई मनुष्य ज्ञानोपदेष्टा नहीं बन सकता, अपने कर्मों में बिना प्रभु को बसाये कोई मनुष्य प्रभु की बात करने का अधिकारी नहीं हो सकता।

शब्दार्थ—

(राजन्) हे सच्चे राजा (यथा यथा) ज्यों ज्यों तू (वृषण्यानि) बलकारक (स्वगूर्त्ता) स्वयं अन्दर से निकले (नर्या) मनुष्यों के हितकारी (अपांसि) कर्मों को (अविवेषीः) व्याप्त करता है, त्यों त्यों (विप्र) हे सर्वज्ञानमय ! (ते) तेरे (पूर्वाणि करणानि) सनातन कर्मों, कर्म साधनों को (आविद्वान्) प्रत्यक्ष समझने वाला ज्ञानी (करांसि) कार्यों को, कर्तव्यकर्मों को (विदुषे) समझने वाले ज्ञानी के लिए (प्र आह) अधिक अधिक प्रकर्ष से कह सकता है, कहता है, कथा चर्चा करता है।

*

* *

७ पौष

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणानः इषं जरित्रे नद्यो न पीपेः ।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यँ धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥

ऋ० ४.१६,१७.२१: १९,२०,२१,२२,२३,२४,११॥

विनय

हे परमेश्वर ! तू सदा सब सन्तों द्वारा स्तुति किया गया है । मैं भी आज तेरी ही स्तुति कर रहा हूँ । स्तूयमान होता हुवा तू अब तो मुझ स्तोता की भी इच्छाओं को पूर्ण करदे । मुझे वह "इष" प्रदान करदे जिसका मैं भूखा हूँ । इस अन्न से तू मुझे छका दे । जैसे कि नदियां जल से भरपूर होती हैं, वैसे तू मुझे मेरे 'इष' से भर पूर करदे । मैं तो तेरे दर्शन का भूखा हूँ । अपना यह दर्शन देकर हे इन्द्र ! तू मुझे पूरी तरह परितृप्त कर दे । मैंने आज तेरा नया अनुभव किया है, तेरे एक नये स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया है । और मैंने तेरे इसी स्वरूप के खूब गुण गाये हैं । हे हरिवन् ! तू अब अपने इस रूप के दर्शन देकर मुझे पूरी तरह तृप्त कर दे । हे हरिओं वाले ! मैं देखता हूँ कि तू अपने इस संसार रूपी रथ को अपनी ज्ञान

क्रिया और बलक्रिया के हरिओं (घोड़ों) से संचालित कर रहा है। तेरे इस स्वरूप को देखकर मैं अब और कुछ नहीं चाहता, इतना ही चाहता हूँ कि मैं तेरे इस रथ के योग्य हो जाऊँ, 'रथ्य' हो जाऊँ। इस तेरे संसार में बसने योग्य हो जाऊँ, सच्चा मनुष्य बन जाऊँ, तेरा मनुष्य बन जाऊँ। अब मैं तेरा मनुष्य बन कर ही इस संसार में रहना चाहता हूँ। तेरे हरिवान् रूप को देखकर अब मैं चाहता हूँ कि मैं अपनी बुद्धि से अपने कर्म से तेरा रथ्य हो जाऊँ और सदा तेरा संभजन करने वाला हो जाऊँ। तेरा रथ्य होने वाले के लिये यह आवश्यक है कि मैं सदा तेरा संभजन किया करूँ। इस लिए हे इन्द्र! अब तू ऐसी कृपा कर कि मैं अपनी प्रत्येक बुद्धि से, अपने प्रत्येक कर्म से सदा रथ्य बना रहूँ और सदा तेरा संभजन करने वाला बना रहूँ।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे इन्द्र(नु) निःसन्देह तू (स्तुतः) स्तुति किया गया है, (नु) अब भी तू (गृणानः) मुझ से स्तूयमान होता हुवा (जरित्रे) मुझ स्तोता के लिये (इषं) इष्ट वस्तु को, अन्न को (नद्यः न) नदियों की तरह (पीपेः) भरपूर कर दे। (हरिवः) हे हरिओं वाले (ते) तेरा (नव्यं) नया (ब्रह्म) अनुभव, ज्ञान (अकारि) मैंने किया है, मैं (धिया) बुद्धि और कर्म से (रथ्यः) तेरे रथ के योग्य और (सदासः) तेरा सदा संभजन करने वाला (स्याम) होऊँ।

*

* *

८ घोष

एवा वस्व इन्द्रः सत्यः सम्राट्, हन्ता वृत्रं वरिवः पूरवे कः।
पुरुष्टुत क्रत्वा नः शग्धि रायः, भक्षीय ते अवसो दैव्यस्य॥

ऋक्० ४.२१.१०॥

विनय

परमेश्वर ही सच्चे सम्राट् हैं। इस संसार में मेरे लिये और कोई सम्राट् नहीं है। दुनियां के सम्राट् कहे जाने वाले मनुष्य झूठे सम्राट् हैं, बिलकुल अनीश्वर अशक्त तुच्छ प्राणी हैं यह मुझे पग पग पर अनुभव होता है। इन मनुष्य-सम्राटों की हैसियत तो उन इन्द्र के मुकाबले में खिलौने के सम्राट् से अधिक नहीं है। इन्द्र जब चाहते हैं तब क्षण में इन 'सम्राटों' को ऊपर से उठा कर नीचे रख देते हैं, इस लोक से उठा कर परलोक में कर देते हैं। इस विश्व में जो भी कुछ वसु जहां भी कहीं दिखाई देता है उसके अधीश्वर तो ये इन्द्र ही हैं। इन ऐश्वर्यों का स्वामी मैंने कभी किसी और को नहीं समझा है। ऐसे जगत् के अधीश्वर होते हुवे ये इन्द्र मनुष्य का सेवन कर रहे हैं, प्रत्येक मनुष्य की सेवा कर रहे हैं। मनुष्य के वृत्रों, शत्रुओं का हनन करते हुवे और उन्हें नाना विध ऐश्वर्य देते हुवे उन की सेवा कर रहे हैं। सचमुच असली सम्राट् सेवा करने वाला ही होता है। प्रजाजनों की उन्नति की सब विघ्न बाधाओं को (वृत्रों को) हटाना तथा उनमें

शारीरिक मानसिक और आत्मिक ऐश्वर्यों को विकसित करना, यही सम्राट् का कर्त्तव्य होता है। हे सच्चे सम्राट्! हे सब से स्तुति किये गये प्रभो! मैं तुझ से क्या मांगू? मैं जिन ऐश्वर्यों के योग्य हूँ उन्हें तुम मुझे दे ही रहे हो। मुझे तो तुम यह शक्ति प्रदान करो कि मैं तुम्हारे इन ऐश्वर्यों को पाने और रखने में समर्थ हो सकूँ। मेरे 'क्रतु' को, मेरे कर्म व प्रज्ञा को तुम ऐसा बनाओ, ऐसा बलवान् और शुद्ध बनाओ कि इन द्वारा मैं तेरे ऐश्वर्यों को पाने का पात्र बन जाऊँ। मैं ऐसा पात्र हो जाऊँगा तो म तेरे दैव रक्षणों का भी भागी हो जाऊँगा। ये दुनियावी बादशाह मेरी रक्षा करते हैं या मुझे मारते हैं इसकी मुझे कुछ भी परवाह नहीं होती। उनके मानुष रक्षणों के पाने की मुझे तनिक भी चिन्ता नहीं रहती। मैं तो तेरे दैव रक्षणों को पाना चाहता हूँ। मैं जानता हूँ कि तेरी दिव्य रक्षा मुझे मिलेगी तो दुनियां में मेरा कोई बाल भी बांका नहीं कर सकेगा। इसलिये हे सच्चे सम्राट्! मैं तो एक तेरे ही साम्राज्य के नीचे रहना चाहता हूँ और केवल तेरे ही दिव्य रक्षण को पाना चाहता हूँ।

शब्दार्थ—

(इन्द्रः) परमेश्वर (एव) ही (वस्वः) ऐश्वर्य का (सत्रः सम्राट्) सच्चा सम्राट् है, (वृत्रं) शत्रु को, बाधा को (हन्ता) विनाश करने वाला वह (पूरवे) मनुष्य के लिये (वरिवः) सेवन को या ऐश्वर्य को (कः) करता है। (पुरु स्तुत) हे बहुतों से स्तुति किये गये तू (नः) हमें (क्रत्वा) कर्म व प्रज्ञा से (रायः) ऐश्वर्य को [पाने के लिये] (शग्धि) समर्थ बना, मैं (ते) तेरे (दैव्यस्य अवसः) दिव्य रक्षण को (भक्षीय) भोगूं, प्राप्त करूं।

९ चौथ

तस्मा अग्नि र्भारतः शर्म यंसत् ज्योक् पश्यात् सूर्यमुच्चरन्तम् ।
यो इन्द्राय सुनुवामेत्याह नरे नर्याय नृतमाय नृणाम् ॥

ऋक्० ४.२५.४॥

विनय

"आओ हम इन्द्र का यजन करेंगे" इस प्रकार जो मनुष्य कहता है, जो स्वयं इन्द्र का यजन करता है और दूसरों को यज्ञ करने की प्रेरणा करता है, जो यह यज्ञ करता है और करवाता है वह मनुष्य निःसन्देह महापुरुष होता है। वह सच्चा ब्राह्मण होता है, मनुष्य समाज का सच्चा नेता होता है। वह आदर्श पुरुष बनता है। ओह! वह इन्द्र जो कि असली नर है, असली पुरुष है, जो कि हम नरों का एकमात्र हितकारी है, और जो कि हम नरों में 'नृतम' है, हम पुरुषों में पुरुषोत्तम है, उस इन्द्र का यदि हम नर लोग यजन नहीं करेंगे तो और किसका यजन करेंगे ? उस नेता 'नर' इन्द्र का जिसके हाथ में इस विशाल ब्रह्माण्ड की बागडोर है जो कि

इस सकल चराचर सृष्टि का संचालक है, उस 'नर' का यजन करना मनुष्य 'नर' की उन्नति के लिये आवश्यक है। इस इन्द्र 'नर' का यजन किये विना मनुष्य अपने मनुष्यत्व की पूर्णता को कभी नहीं प्राप्त कर सकता, पूर्ण नर नहीं हो सकता। इसलिये वे ही महिमाशाली पुरुष अपने पुरुषार्थ को प्राप्त कर रहे हैं जो कि इन्द्र का यज्ञ कर रहे हैं और करवा रहे हैं।

ऐसे ही इन्द्रयाजी पुरुषों को 'भारत अग्नि' अपने शरण में लेता है, अपना आश्रय, अपना सुख प्रदान करता है। 'भारत अग्नि' वह अग्नि है जो कि हमारा भरण करता है, जो कि हमारे शरीर का और इस संसार-शरीर का भरण (धारण, पोषण) करता है। यह प्राणाग्नि है, इसी अग्नि में इन्द्र के लिये यज्ञ किया जाता है। इसमें जब हम इन्द्र के लिये अपने सब भोग्यजगत् रूपी सोम का और भोगेच्छा रूपी सोमरस का हवन करते हैं तो हम में यह प्राणाग्नि खूब प्रदीप्त होता है और प्राणरूप सूर्य 'इन्द्र' के द्वारा हमारी सोमाहुति को इन्द्र परमेश्वर तक पहुँचाता है। एवं प्रदीप्त हुवा यह 'भारत अग्नि' हमारा भरण करता है, हमारा पूरा धारण पोषण करता है। हमें अपना महान् आश्रय, महान् रक्षण, महान् आनन्द प्रदान करता हुवा हमारा पूरी तरह धारण और पोषण करता है। हम में 'भारत' प्राण भरपूर होता है और इस प्राण के साथ हमारा सम्पूर्ण मनुष्यत्व विकसित होता है। हमारे लिये सूर्य देव तब चिरकाल तक प्राण,प्रकाश, जागृति और जीवन देता हुवा उदित होता है। हम पूर्ण जीवन प्राप्त करते हैं। प्राणरूप आदित्य से नित्य नया प्राण प्रकाश पाते हुवे पूर्ण आयु तक उसके दर्शन करते हुवे पूर्ण जीवन

प्राप्त करते हैं। इस तरह हम महान् शक्ति महान् जीवन वाले महापुरुष बन जाते हैं। यह सब इन्द्र-यजन की महिमा है, इन्द्रयाजी बन कर भारत अग्नि की शरण पाने की महिमा है।

शब्दार्थ—

(नरे) असली नर (नर्याय) नरों के हितकारी और (नृणां नृतमाय) नरों में नरोत्तम (इन्द्राय) इन्द्र के लिये (यः) जो पुरुष (सुनुवाम इति) 'आओ, हम उसका यजन करें' ऐसा (आह) कहता है (तस्मै) उसके लिये (भारतः अग्निः) भरण करने वाला प्राणाग्नि (शर्म) अपनी शरण को, सुख को (यंसत्) देता है, वह (ज्योक्) चिरकाल तक (उच्चरन्तं) उदय होते हुवे (सूर्यं) सूर्य को (पश्यात्) देखता है।

* * *

अयं होता प्रथमः पश्यतेमं, इदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु ।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तो,अमर्त्यस्तन्वा वर्धमानः ॥

ऋ. ६.९.४॥

विनय

हे मनुष्यो ! अपनी आत्मा को देखो । यह अभौतिक अग्नि है, न मरनेवाला चेतन अग्नि है । यह पहिले से विद्यमान 'होता' है, दान आदान करनेवाला है । भौतिक अग्नि का हवन तो हम अब पीछे से जन्म पाकर करते हैं, पर यह आत्माग्नि का हवन अनादि काल से चल रहा है । हमें जो कुछ ज्ञान बल ऐश्वर्य का आदान मिल रहा है यह इसी आत्माग्नि के हवन से मिल रहा है । इन का देनेवाला बाहर और कोई नहीं है, अन्दर का होता हमारा यह आत्मा ही है । हे मनुष्यो ! तुम उसे देखो । उस असली अपने आपको देखो जो कभी न मरने वाला है । हमारे मरने पर जब और सब

कुछ राख हो जाता है, तब भी जो रहता है वह यही हमारी अमर आत्म-ज्योति है। मरने पर यह केवल अप्रकट हो जाता है, संसार की दृष्टि में छिप जाता है, किन्तु फिर जन्म होने पर यह ध्रुव स्थिर नित्य आत्मा, पहिले से स्थिरतया बैठा हुवा ही आत्मा पुनः प्रादुर्भूत हो जाता है, जनित हो जाता है। जैसे काष्ठ में पहिले से स्थित भौतिक अग्नि संघर्षण आदि से प्रदीप्त हो जाता है, जैसे पहिले से विद्यमान जाठर अग्नि समय आने पर भूख के रूप में प्रकट हो जाता है, वैसे ही यह 'ध्रुव आनिषत्त' आत्माग्नि उत्पत्तिकाल में केवल पुनर्जनित हो जाता है। यह तब पैदा नहीं होता है किन्तु प्रकट होता है। इसीलिए, यद्यपि यह कभी न घटने बढ़ने वाला अमर्त्य है तो भी यह पुनर्जनित होकर अपने तनू द्वारा, अपने शरीरों आदि बाह्य प्रकाश द्वारा बढ़ता है। तनू और कुछ नहीं है यह केवल आत्मा का विस्तार है। स्थूल शरीर द्वारा ही नहीं किन्तु इससे बहुत अधिक अपने मनोमय व विज्ञानमय आदि आन्तर शरीरों द्वारा यह आत्माग्नि बढ़ता है, नानारूप से बढ़ता है। यह अपनी मन व बुद्धि की वृत्ति द्वारा तो इतना विस्तृत हो जाता है कि सब संसार को व्याप्त कर लेता है।

हे मनुष्यो! तुम इस अन्दर के असली अपने आप की तरफ़ देखो जिसका यह नाना रूप से विस्तार बाहर हो रहा है। देखो! हम असल में यही अमृत अग्नि हैं। हमारा शरीर आदि मर्त्य विस्तार और कुछ नहीं है यह हम अग्निओं का ही नाना प्रकार का अनित्य प्रज्वलन है, हम अग्निओं का ही नाना प्रकार का अस्थिर आत्म-प्रकाश है।

हे मनुष्यो ! तुम इस आत्माग्नि को क्यों नहीं देखते ? तुम अपने न जाने किन किन मर्त्य रूपों को दिनरात देखते हो, पर इस अमृत असली अपने आपको क्यों नहीं देखते ? तुम जरा उसे देखो तो अमर हो जाओ, अभी अमर हो जाओ।

शब्दार्थ-

(अयं) यह आत्माग्नि (प्रथमः) पहिले से विद्यमान (होता) होता, दानादान कर्त्ता है, हे मनुष्यो! (इमं) इसे (पश्यत) देखो। (इदं) यह (मर्त्येषु) हम मरनेवालों में (अमृतं ज्योतिः) कभी न मरने वाली ज्योति है। (अयं सः) यही वह (ध्रुवः) नित्य,स्थिर (आनिषत्तः) पहिले से बैठा हुवा ही अग्नि (जज्ञे) फिर प्रादुर्भूत होता है और (अमर्त्यः) अमर्त्य, अभौतिक होकर भी (तन्वा) अपने शरीर आदि विस्तार द्वारा (वर्धमानः) बढ़ता हुवा होता है।

❀

❀ ❀

११ पौष
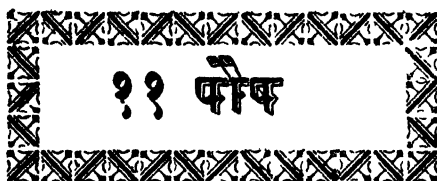
उपक्षेतारः तव सुप्रणीतेऽग्ने विश्वानि धन्या दधानाः ।
सुरेतसा श्रवसा तुंजमाना अभिष्याम पृतनायूँ अदेवान् ॥

ऋक् ३. १. १६ ।

विनय

सब अदेवों को, अदेवभावों को, हम विनष्ट कर देंगे । यह राक्षस यद्यपि हम पर बार बार हमला करते हैं, अपनी आसुरी सेना के साथ आकर हम पर चढ़ाई करते हैं परन्तु हे अग्ने ! तेरी शरण ले कर हम इनके प्रबल से प्रबल आक्रमणों को परास्त कर देंगे । तेरी शरण पकड़ लेने पर, तेरे निकट वर्ती 'उपक्षेता' हो जाने पर कोई आसुर भाव हमें दबा नहीं सकता । हे सुन्दर और प्रकृष्ट नीति वाले ! हम जब कभी आसुरी वृत्तियों के वशवर्त्ती होते हैं तो इसीलिये होते हैं क्यों कि हम तुम्हारी श्रेष्ठ नीति का अनुसरण नहीं करते । यदि हम तुम्हारे श्रेष्ठ और प्रबल नेतृत्व में चलें तो हम कभी किसी से पराजित न होवें । 'इसलिए अब हम ने तेरे नैतिक नियमों का पूरा पूरा पालन करने का निश्चय कर लिया है । तेरी नीति के अनुसार चलते हुवे अब हम उन सब अहिंसा, सत्य,

अस्तेय आदि गुणों को अपने में धारण कर लेंगे जिनके कारण मनुष्य धन्य कहलाता है । अदेवों को दूर करने वाले अभय, सत्वशुद्धि आदि दैवी सम्पत्ति से अब हम अपने को सम्पन्न कर लेंगे । इस प्रकार सब धन्य गुणों को अपने में धारण करते हुवे और आत्मबलिदान करते हुवे हम सब असुरों का अभिभव कर देंगे । इन धन्यगुणों के धारण करने से हम में जो एक श्रेष्ठ वीर्य से युक्त ऐश्वर्य, प्रभुत्व, उत्पन्न हो जायगा वह हमारे लिए आत्मत्याग करने को बहुत सुगम कर देगा । यह आत्मत्याग वह वज्र है जिसके सामने कोई असुर नहीं ठहर सकता । 'सुरेता श्रव' से तीक्ष्ण किये गये इसी वज्र से हम अपनी सब आसुरी वृत्तिओं का पराभव करदेंगे । इसी प्रकार हे अग्ने ! तेरी दृढ़ शरण ले लेने पर कोई आसुर भाव अब हम पर आक्रमणकारी नहीं हो सकेगा, तूफ़ान की तरह उठने वाले प्रबल से प्रबल आसुरभाव का आक्रमण हम पर सफल नहीं होसकेगा ।

शब्दार्थ—

(सुप्रणीते) हे श्रेष्ठ और प्रकृष्ट नीति वाले ! (तव) तेरे (उपक्षेतारः) पास रहने वाले, शरण में आये हम अपने में (विश्वानि) सब (धन्या) धन्य बनाने वाले गुणों को (दधानाः) धारण करते हुवे और (सुरेतसा) श्रेष्ठ वीर्य से युक्त (श्रवसा) ऐश्वर्य द्वारा, प्रभुत्व द्वारा (तुंजमाना) दान करते हुए, आत्मबलिदान करते हुवे (पृतनायून्) आक्रमणकारी (अदेवान्) अदेवों को, असुरों को (अभिष्याम) परास्त कर देवें ।

*

* *

को नानाम वचसा सोम्याय, मनायुर्वा भवति वस्त उस्राः।
क इन्द्रस्य युज्यं कः सखायं भ्रात्रं वष्टि कवये क ऊती ॥

ऋक्० ४.२५.२॥

विनय

यह दुनियां किधर जा रही है ? क्या करना चाहिये और क्या कर रही है ? लोग न जाने किन किन जड़ और चेतन मूर्त्तिओं के सामने झुकते हैं, पर कौन है जो कि अपने प्रभु परमेश्वर के सामने झुकता है ? उस अमूर्त्त के सामने भौतिक रूप से झुकना तो हो नहीं सकता, मानसिक और बाहरी वाणी से ही हो सकता है, तो कौन है जो उस प्रभु के सम्मुख वाणी द्वारा, विचार द्वारा व प्रार्थना द्वारा नम्र होता है ? वह तो सोम्य है, हमारे सम्पूर्ण सोम का पात्र है। हमें अपने सब भोग्य पदार्थों को, अपने सब ऐश्वर्यों को उसके सामने झुका देना चाहिये, उसे समर्पित कर देना चाहिये। नहीं, हमें तो अपने सब सोमसहित अपने आप को ही उसके चरणों में समर्पित कर देना चाहिये। पर उस जगत् के एक मात्र स्वामी का भी हम में से कौन है जो सच्चा पूजन करता है ? उस का मनन करना तो मुश्किल है, पर कौन है जो उसके मनन करने का इच्छुक भी होता है ? कौन है जो मनन द्वारा उस इन्द्र की ज्ञानरूप किरणों को अपने में धारण करता है ?

अथवा इन इन्द्रियों को ही 'उस्रा' समझो जो उस इन्द्र की हैं, जो उस इन्द्र की गौएं या किरणें हैं। तो कौन है जो इन इन्द्रियों को या इन शरीरों को उस इन्द्र के समझकर वस्त्र की तरह ओढ़ता है, असंग होकर धारण करता है? हम दुनियां में नाना प्रकार के (धनी मानी ज्ञानी आदि) लोगों को अपना साथी संगी, इष्टमित्र, भाई बन्धु बनाते फिरते हैं, बनाते हैं और मानते हैं, पर कौन है जो उस इन्द्र को अपना साथी बनाना चाहता है, कौन है जो उसे सखा करना चाहता है, और ऐसा विरला कौन है जो उससे भ्रातृभाव स्थापित करना चाहता है? उस क्रान्तदर्शी सर्वज्ञ पुरुष के लिये कौन है जो इतनी कान्ति,प्रीति व भक्ति रखता है? ओह! इस दुनियां में हम अंधाधुंध अपने काम करते जा रहे हैं, पर जो इस दुनियां का असली स्वामी है, जो हमारा सब कुछ है, जो हमारा अपना है उसकी तरफ़ हम कुछ भी ध्यान नहीं दे रहे। हम क्या कर रहे हैं?

शब्दार्थ—

(सोम्याय) सोम के योग्य इन्द्र के लिये (कः) कौन (वचसा) वाणी द्वारा (ननाम) नमन करता है? (वा) अथवा कौन है जो उस इन्द्र के (मनायुः) मनन करने की इच्छा वाला (भवति) होता है? कौन उसकी (उस्राः) किरणों व गौओं को (वस्ते) धारण करता है? (कः) कौन (इन्द्रस्य) इन्द्र के (युज्यं) साथ की, (कः) कौन उसकी (सखायं) मैत्री की (भ्रात्रं) या भ्रातृभाव की (वष्टि) कामना करता है? (कः) कौन (कवये) उस क्रान्तदर्शी इन्द्र के लिये (ऊती) कान्ति, प्रीति व भक्ति को रखता है?

त्वं वर्धन्ति क्षितयः पृथिव्यां त्वां राय उभयासो जनानाम्।
त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन् मानुषाणाम्॥

ऋक्० ६.१.५॥

विनय

इस पृथ्वी पर पृथ्वी निवासी लोग नाना प्रयोजनों के लिये भौतिक अग्नि को बढ़ाते हैं, प्रदीप्त करते हैं। मनुष्य अपने वैयक्तिक और सामूहिक धनों द्वारा भी वैयक्तिक और सामूहिक भौतिकाग्नि को नाना प्रकार से बढ़ाते हैं। परन्तु, हे अभौतिक अग्ने! तुझे भी हम पृथ्वीनिवासी इस पृथ्वी पर बढ़ाते हैं। बेशक हम इस बात को जानते नहीं। इस पृथ्वी पर जो भी कुछ दिखाई देता है, जो भी कुछ बल तेज ज्ञान की उन्नति का कार्य हो रहा है वह सब तेरी ही महिमा है, तेरी ही विभूति है, तेरी ही वृद्धि है। इसी तरह मनुष्यों के दोनों प्रकार के धनों से—वैयक्तिक सामूहिक धनों से—जो भी कुछ घटित हो रहा है, जो भी कुछ वैयक्तिक या सामूहिक उन्नति प्रगति के कार्य हो रहे हैं वह सब हे अग्ने! तेरा ही ज्वलन है, तेरा ही प्रकाश है। इस तरह इस पृथ्वी पर चारों तरफ़ तू ही तू प्रकाशित हो रहा है, सब तरफ़ तू ही तू चमक रहा है। पर आश्चर्य की बात है कि तेरे बढ़ाने वाले होते हुवे भी हम इस

संसार के दुःखसागर में गोते खा रहे हैं। चौबीसों घंटे दुःखी और संतप्त हैं। इसका कारण यह है कि हम तुझे जानते हुवे नहीं बढ़ा रहे हैं। तू तो चेत्य है, हमारा संज्ञेय है, हमारा एक मात्र जानने योग्य हैं। यदि हम तुझे सम्यक् प्रकार से जान कर बढ़ावें तो हम इस दुःख सागर से तर जावें, क्योंकि तब हम तेरा यज्ञ करने वाले हो जावें। यदि हम जान लेवें कि कि इस संसार में यह जो कुछ दीख रहा है वह सब तेरा ही तेज प्रकाशित हो रहा है तो हमारे लिये संसार में कोई दुःख-प्रद वस्तु न रहे, सब कुछ पवित्र यज्ञिय बन जावें। इसलिये हे तरणे ! हे हमारे तराने वाले ! तू हमें अपना ज्ञान करा कर हमारा त्राता हो जा, हमारा रक्षक हो जा। हे अग्ने ! तू तो सदा ही हम मनुष्यों का पिता और माता है पर हम तुझे जानते नहीं हैं। हे सब तरफ़ प्रज्वलित होने वाले अग्ने ! हे हम द्वारा बढ़ाये जाने वाले प्रभो ! अब तू हमारा त्राता होजा, हमारा पिता और माता होजा।

शब्दार्थ—

(त्वां) तुझको (पृथिव्यां) पृथिवी पर (क्षितयः) पृथ्वी-निवासी पुरुष (वर्धन्ति) बढ़ाते हैं, (त्वां) तुझ को (जनानां) मनुष्यों के (उभयासः) दोनों प्रकार के (रायः) धन बढ़ाते हैं। (तरणे) हे दुःख सागर से पार तराने वाले ! (त्वं) तू (चेत्यः) संज्ञेय, सम्यक् प्रकार से जानने योग्य होकर (त्राता) हमारा रक्षक (भूः) हो, तू तो (सदं इत्) सदा ही (मानुषाणाम्) मनुष्यों का (पिता माता) पिता और माता है।

*

* *

शिक्षेयमिन् महयते दिवे दिवे राय आ कुहचिद् विदे।
नहि त्वदन्यन् मघवन् न आप्यं वस्यो अस्ति पिता चन॥

ऋ० ७.३२.१९॥ अथर्व० २०.८२.२॥

विनय

हे परमेश्वर! हे मेरे पिता! मैं तुम्हें देना चाहता हूँ, अपना सब कुछ दे देना चाहता हूँ। जब मैं तेरे अनन्त उपकारों को अनुभव करता हूँ तो हे प्रतिपालक! मैं तुझे अपना सर्वस्व समर्पण किये बिना नहीं रह सकता। तब अपना सब कुछ तेरे चरणों में रख देने को आतुर हो उठता हूँ। परन्तु हे इन्द्र! तू कहां विद्यमान है? मैं तुझे कहां पाऊँ? मैं तुझे देने कहां जाऊँ? यह सब कुछ मैं नहीं समझ पाता। इस दुनियां में जो तेरे सच्चे भक्त होते हैं, जिनमें तेरा अधिक से अधिक प्रकाश होता है उन पूजनीय तेरा पूजन करनेवाले भक्तों को मैं सदा अपना धन देता रहता हूँ। उनका निरन्तर भरण-पोषण करता रहता हूँ। ऐसे त्यागी महात्माओं के लिये, ऐसे तेरे

'बन्दों' के लिये मेरा घर हर समय खुला हुवा है। नहीं, ये सन्त तो जहां भी कहीं विद्यमान हों मैं इन्हें प्रतिदिन अपना धन पहुँचाता हुवा अपने धन को सफल किया करता हूँ। इस तरह इन महानुभावों को नित्य दान देता हुवा मैं अनुभव करता हूँ कि मैं तुम्हें देता हूँ। इन तेरी महिमा बढ़ाने वाले पूजनीयों की तृप्ति करने से, हे इन्द्र! क्या तुम्हारी तृप्ति नहीं होती है? तुम्हें तृप्त करने के लिये मैं और क्या करूँ? सचमुच, हे मघवन्! तुम्हारे सिवाय हमारा और कोई बन्धु नहीं है, और कोई प्राप्तव्य नहीं है, तथा कोई तुम्हारे जैसा प्रतिपालक पिता नहीं है, कोई श्रेष्ठ सच्चा पिता नहीं है। पर तुझ पिता को हम अपनी भेंट कैसे पहुँचावें? तुम्हें पहुँचाने के लिये ही तो मैं प्रतिदिन तेरों सन्तों की सेवा किया करता हूँ, तुम्हें तृप्त करने के लिये ही मैं प्रतिदिन तेरे भक्तों को दान किया करता हूँ।

शब्दार्थ—

(कुहचिद् विदे) जहां भी कहीं विद्यमान (महयते) तेरा स्तुति पूजन करनेवाले तेरे भक्त के लिये मैं (रायः) धनों को (दिवे दिवे) प्रतिदिन, सदा (आ) पूरी तरह से (शिक्षेयम् इत्) देता ही रहता हूँ। (मघवन्) हे परमेश्वर! (त्वत् अन्यत्) तेरे सिवाय और कोई (नः) हमारा (आप्यं) सम्बन्धी, प्राप्तव्य (नहि) नहीं (अस्ति) है; तथा तेरे सिवाय और कोई (वस्यः) श्रेष्ठ (पिता) पिता (चन) भी हमारा नहीं है।

*

* *

विश्वदानीं सुमनसः स्याम पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम् ।
तथा करत् वसुपतिर्वसूनां देवाँ ओहानो अवसा गमिष्ठः ॥

ऋ० ६.५२.५॥

विनय

लोग न जाने क्या क्या इच्छायें करते हैं। पर हम तो केवल इतना चाहते हैं कि हम सदा प्रसन्न रहें, आनन्दित रहें, हर समय 'सुमनाः' रहें। हमारा आनन्द कहीं अज्ञान का आनन्द या विपरीत प्रकार का आनन्द न हो इसलिये इतना और चाहते हैं कि हम निरन्तर नव प्रकाश को पाते रहें, सूर्य के उदय को सदा देखते रहें, ज्ञानोदय को उत्तरोत्तर उपलब्ध करते रहें। इस प्रकार उत्तरोत्तर ज्ञान प्रकाश में उन्नत होते हुवे हम अधिक अधिक उत्तम आनन्द से आन-

न्दित रहें, प्रसन्न बने रहें। बस, वसुओं के वसुपति से, सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के अधीश्वर से हम और कुछ नहीं चाहते। उसके अनन्त ऐश्वर्य-भंडार से हम केवल यही प्राप्त करना चाहते हैं, इसे ही हम सर्वोत्कृष्ट ऐश्वर्य समझते हैं। हम जानते हैं कि ये हमारे प्रभु देवों के देव हैं, सम्पूर्ण देवों को वहन करने वाले हैं, सम्पूर्ण दिव्य गुणों को प्राप्त कराने वाले हैं और ये प्रभु हमारी दौड़ कर रक्षा करने वाले हैं, आड़े समय पर भक्तों की रक्षा के लिये तुरन्त अपनी रक्षा सहित आ पहुँचने वाले हैं। हम चाहते हैं कि रक्षा के साथ आने वाले ये हमारे वसुपति प्रभु दिव्य गुणों को प्राप्त कराते हुवे हम पर ऐसी कृपा करें कि हम उनके सूर्य प्रकाश में विकसित होते हुवे सदा आनन्दित रहें, हर समय प्रसन्नमना बने रहें। बस, हमें और कुछ नहीं चाहिये, और कुछ नहीं चाहिये।

शब्दार्थ—

हम (विश्वदानीं) सदा, सर्वकाल (सुमनसः) आनन्दित प्रसन्न-मन (स्याम) रहें (नु) और (उच्चरन्तं) उदय होते हुवे (सूर्यं) सूर्य को (पश्येम) देखते रहें, (वसूनां) ऐश्वर्यों का (वसुपतिः) ऐश्वर्याधिपति (देवान्) देवों, दिव्य गुणों को (ओहानः) वहन करने वाला, प्राप्त कराने वाला और (अवसा आगमिष्ठः) रक्षण शक्ति के साथ आने वालों में सर्वश्रेष्ठ प्रभु (तथाकरत्) वैसा करें।

*

* *

सुपर्णोऽसि गरुत्मान् पृष्ठे पृथिव्याः सीद, भासान्तरिक्षमापृण।
ज्योतिषा दिवमुत्तभान, तेजसा दिश उद् दृंह ॥

यजु० १७.७२॥

विनय

हे जीव ! तू अपने को नहीं जानता। तू तो सुपर्ण है, गरुत्मान् है। तू सुन्दर पतन वाला है, तू सुन्दर उड़ान उड़ने के लिये, ऊँची उन्नति करने के लिये उत्पन्न हुवा है। तू सब शुभ लक्षणों से युक्त है। तेरी आत्मा गुरु है, गौरवयुक्त है, बड़ी महान् है। तू उठ, तू इस पृथिवी के तल पर बैठ। तू सम्पूर्ण पृथिवी का आदमी है। तू एक घर का, एक देश का या एक जाति का नहीं, किन्तु सम्पूर्ण पृथिवी का पुरुष है। पृथ्वी के पीठ पर स्थित होकर तू चमक और अपनी दीप्ति

से अन्तरिक्ष को भर दे। जब तू अपनी मानसिक दीप्ति को दिखलावेगा तो उसकी प्रभा से इस संसार का सब मानसिक जगत् चकाचौंध हो जायगा। नहीं, तू और ऊपर उठ, तू अपनी आत्मज्योति से द्युलोक को उठा ले। यह द्युलोक जिन दिव्य पुरुषों से बना है, थमा है, उनकी सी दिव्यता तुझ में भी विद्यमान है। तू ज़रा अपनी आत्मज्योति को चमका, ज़रा दिव्य ज्योति को भी प्रकाशित कर। और इस तरह ऊपर उठता हुवा तू चारों दिशाओं को भी अपनी तेजस्विता से उन्नत करता जा। तेरा तेज दिगन्तों तक ऐसा फैले कि तेरी साधना चारों दिशाओं के मनुष्यों को भी साथ लेती हुई होवे, उन्हें भी साथ में दृढ़ और उन्नत करती जावे। तू साधारण आदमियों की तरह क्यों बैठा है। तू तो वह अग्नि है जिसने कि अपने प्रदीपन से सम्पूर्ण संसार को व्याप्त कर लेना है। तू उठ, तू सुपर्ण है, तू गरुत्मान् है।

शब्दार्थ—

तू (**सुपर्णः**) सुन्दर उन्नति करने वाला (**गरुत्मान्**) गुरु आत्मा वाला (**असि**) है, तू (**पृथिव्याः**) पृथिवी के (**पृष्ठे**) पृष्ठ पर (**सीद**) बैठ, (**भासा**) अपनी दीप्ति से (**अन्तरिक्षं**) अन्तरिक्ष को (**आपृण**) भर दे, (**ज्योतिषा**) अपनी ज्योति से (**दिवं**) द्युलोक को (**उत्तभान**) ऊपर उठा ले, और (**तेजसा**) अपने तेज से (**दिशः**) दिशाओं को (**उद् दृंह**) उन्नत कर।

*

* *

अहं च त्वं च वृत्रहन् संयुज्याव सनिभ्य आ।
अरातीवा चिदद्रिवोऽनु नौ शूर मंसते, भद्रा इन्द्रस्य रातयः॥

ऋ० ८.६२.११॥

विनय

'इन्द्र के दान कल्याणकारी हैं, इन्द्र के दान बड़े कल्याणकारी हैं' इस टेक के साथ मैंने तेरी बहुत गुणगीतियां गायी हैं। हे इन्द्र ! तेरे दानों की, तेरी देनों की बहुत स्तुतियां गायी हैं। पर यह वाचिक स्तुति बहुत हो चुकीं, अब तो, हे वृत्रहन् ! आओ, मैं और तुम मिल जावें और मिलकर क्रियामयी वाणी द्वारा दुनिया को दान की महिमा दिखलावें। कोई भी मेल, कोई भी संयोग, बिना दान प्रतिदान के नहीं हो सकता। मेरा और तेरा यह संयोग तभी हो सकेगा जबकि मैं अपना सर्वस्व तुझे दे दूँ और प्रतिदान में तू मेरा अभीष्ट ऐश्वर्य मुझे दे दे, जबकि मैं अपने सब टेढ़ेपन को अपने सब विकार को त्याग दूँ और प्रतिदान में हे वृत्रहन् ! तू सब विघ्न बाधाओं को छिन्न भिन्न करके अपनी समता से अपनी पवित्रता से मुझे भर दे। यह हमारा संयोग, यह योग, यह योगप्रक्रिया तब तक चलेगी जब तक तुझसे मुझे मेरे सब अभीष्ट ऐश्वर्य न मिल जावेंगे, जब तक मुझे पूर्ण प्राप्ति न हो जावेगी। तो आओ, मेरे इन्द्र ! तुम भी आगे आओ, मैं आत्म-बलिदान के रास्ते

आज तुमसे संयुक्त होने निकला हूँ। मैं एक के बाद एक ऐसे ऐसे आत्मबलिदान करूँगा कि इन्हें देख दुनिया दहल जायगी। कट्टर से कट्टर अदानिओं के हृदय हिल जायेंगे।. दान के महात्म्य को देख यह दुनिया एक बार तो आत्मत्याग के लिये तत्पर हो जायगी। जिन्हें आत्मत्याग मे जरा भी विश्वास नहीं, जिन्हें आत्मबलिदान में कुछ भी श्रद्धा नहीं वे भी दान की शक्ति को अनुभव करेंगे, हमारी आत्माहुतिओं की महिमा को समझेंगे, तथा हमारे इस दान प्रतिदान का अनुमोदन करेंगे। तो लो, मैं अपने एक एक अंग को काट काट कर तुम्हारे चरणों में रखता जाता हूँ और तुम, हे वज्रवाले! भेदन कर करके मेरे लिये एक एक उच्च से उच्च ऐश्वर्य को देते जाओ। ओह! मेरे इन महान् आत्म बलिदानों के प्रतिदान में, हे शूर! जब तुम मुझे पूर्ण प्राप्ति करा दोगे, जब मुझे निहाल कर दोगे तब तो यह दुनिया भी कह उठेगी "निःसन्देह, इन्द्र के दान बड़े कल्याणकारी हैं, इन्द्र के प्रतिदान परम कल्याणकारी हैं।"

शब्दार्थ—

(वृत्रहन्) हे विघ्नों के छिन्न भिन्न करने वाले इन्द्र! (अहं च त्वं च) मैं और तू, हम दोनों (संयुज्याव) संयुक्त हो जावें, तब तक (आ) जब तक (सनिभ्यः) पूर्ण प्राप्तियां हो जावें, जिस से (अरातीवा) अदानी, कभी त्याग न करने वाला (चित्) भी, (अद्रिवः) हे वज्र वाले! (शूर) हे शूर! (नौ) हमारा, [हमारे दान प्रतिदानों का] (अनुमंसते) अनुमोदन करे, विचार करके समझ जावे, निःसंदेह (इन्द्रस्य) परमेश्वर के (रातयः) दान, देनें (भद्राः) कल्याणकारी हैं।

सत्यमिद् वा उ तं वयं इन्द्रं स्तवाम नानृतम् ।
महाँ असुन्वतो वधो भूरि ज्योतींषि सुन्वतः, भद्रा इन्द्रस्य रातयः
ऋ० ८.६२.१२।।

विनय

हमने जो इन्द्र के परम कल्याणकारी देनों की स्तुति की है, वह निःसंदेह सच्ची स्तुति है, अनृत नहीं। हमने जो उस महान् इन्द्र की महान् महिमा गायी है वह भी निःसंदेह सच्ची है, कदापि अनृत नहीं। हम जानते हैं कि हम यह सच्चे इन्द्र का ही गुण कीर्त्तन कर रहे हैं, अनृत इन्द्र का नहीं। सच्चे परमेश्वर की ही स्तुति कर रहे हैं, मिथ्या परमेश्वर की नहीं। इसलिये हमारी यह स्तुति कभी विफल नहीं जायगी, यह अवश्य फल लायगी। यह हमारी सच्ची स्तुति हमें इन्द्र के अवश्य दर्शन करावेगी, इन्द्र के कल्याण दानों का अनुभव करावेगी। ओह ! हमारी यह स्तुति तो इतनी सच्ची है कि हम साक्षात् देख रहे हैं कि इस संसार में यज्ञ न करने वालों का, 'असुन्वत्' लोगों का, उतना ही बड़ा विनाश हो रहा है

जितना बड़ा यज्ञ करनेवाले 'सुन्वत्' लोगों का कल्याण हो रहा है। 'असुन्वत्' लोगों का वध इसीलिये हो रहा है चूंकि यज्ञ न करने के कारण इन्हें प्रतिफल में इन्द्र का कल्याणदान नहीं मिल रहा है। इसके विपरीत 'सुन्वत्' लोगों का इस लिये कल्याण हो रहा है, चूँकि उन्हें प्रतिफल में सब ज्योतियों का बहुत बहुत दान मिल रहा है। और ज्योतियों के मिल जाने पर फिर क्या नहीं मिलता ? हे मनुष्यो ! तुम इस साक्षात् सत्य को क्यों नहीं देखते ? सत्य इन्द्र के इस सत्य स्वभाव को क्यों नहीं अनुभव करते ? तुम किस अनृत दुनिया में रह रहे हो ? क्यों धोखे पर धोखा खा रहे हो ? यह देखो, जो हो रहा है वह यही है कि अत्यागिओं का निरन्तर वध हो रहा है और आत्मत्यागी दिनोंदिन ऊपर चढ़ रहे हैं। यह सब इन्द्र की 'भद्र राति' मिलने और न मिलने का परिणाम है। तो तुम भी क्यों नहीं अनुभव करते और एक स्वर होकर बोलते 'इन्द्र की राति भद्र है, सचमुच इन्द्र के दान कल्याणकारी हैं ?'

शब्दार्थ—

(वयं) हम (तं) उस (इन्द्रं) इन्द्र की (वै उ) निःसंदेह (सत्यं इत्) सच्ची ही (स्तवाम) स्तुति कर रहे हैं, (अनृतं) झूठी (न) नहीं। देखो, (असुन्वतः) यज्ञ न करने वाले का (महान्) बड़ा (वधः) विनाश हो रहा है और (सुन्वतः) यजनशील की (भूरि) बहुत बहुत (ज्योतींषि) ज्योतियां [मिल रही] हैं, क्योंकि (इन्द्रस्य) इन्द्र के (रातयः) दान (भद्राः) कल्याणकारी हैं।

❀

❀ ❀

यमग्ने मन्यसे रयिं सहसावन् अमर्त्य ।
तमा नो वाजसातये वि वो मदे यज्ञेषु चित्रमाभर विवक्षसे ।।

ऋ० १०.२१.४।।

विनय

हे शक्ति के भंडार ! सहसावन् ! तुम महान् हो, तुम ज्ञान बल आदि सब प्रकार से महान् हो, बहुत अधिक महान् हो । तुम्हारी महत्ता को अनुभव करके, हे अमर अग्ने ! मैं तुम्हारी शरण पड़ गया हूँ । तुम्हारी शरण में आकर मैं तुम से और क्या मांगू ? मुझे तो मांगने का सऊर ही नहीं है, मुझे वह ज्ञान ही नहीं कि अपने योग्य वस्तु को ठीक ठीक जान सकूं । इसलिये, हे अग्ने ! तुम ही जिस ऐश्वर्य को मुझे देने योग्य समझते हो उसे मेरे लिये ला दो, मुझे प्रदान करते रहो । मेरे विकास के लिये अब किस ऐश्वर्य की आवश्यकता है यह तुम्हीं ठीक ठीक जानते हो, तुम ही जान सकते हो । इसलिये मेरी उन्नति के लिये, मेरे बललाभ (वाजसाति) के लिये

योग्य 'रयि' को तुम ही प्रदान करो। नहीं,'अपने बललाभ (वाज-साति) के लिये' ऐसा मैं क्यों कहूँ ? बल लाभ करके मैं और क्या करूँगा ? मुझे तेरे विमद के लिये, तेरी तथा देवों की विशेष प्रसन्नता के लिये, यज्ञों में तुम्हारी परितृप्ति करने के लिये ही तेरा दिया 'रयि' चाहिये। तेरे दिये आवश्यक रयि को पाकर ज्ञान बल आदि से सम्पन्न होकर मैंने तेरे लिये ही यज्ञ कर्म करना है, और मैंने क्या करना है ? यज्ञों में तेरी परितृप्ति कर सकूं इसीलिये, हे अग्ने ! तू मुझे अपना 'चित्र' धन प्रदान कर। तू मेरे लिये जो ऐश्वर्य देगा वह मेरे हित में अद्भुत गुणकारक सिद्ध होगा, वह मेरे लिये तेरी पवित्र पूज्य भेंट रूप होगा, उससे ही निःसन्देह मेरा कल्याण सिद्ध होगा। इसलिये हे अग्ने ! तू मुझे अपना चित्र ऐश्वर्य दे, अपनी परितृप्ति के लिये दे और उस परितृप्ति द्वारा महान् हो, अपने दिव्य रूप से महान् होता हुवा भी मेरी इस परि-तृप्ति द्वारा मानुषिक रूप से भी महान् हो।

शब्दार्थ—

(सहसावन्) हे शक्ति के भंडार ! (अमर्त्य अग्ने) अमर अग्ने ! तू (यं) जिसे (रयिं) मुझे देने योग्य ऐश्वर्य (मन्यसे) समझता है (तं) उसे (नः) हमें (वाजसातये) बल लाभ के लिये, उन्नति के लिये (आभर) ला दे, (यज्ञेषु) यज्ञों में (वः) तुम्हारी (वि मदे) विशेष प्रसन्नता व परितृप्ति के लिये (चित्रं) उस आश्चर्यकर व पूज्य धन को (आ) ला दे, (बिवक्षसे) तू महान् होता है।

*

* *

हृदिस्पृशस्ते आसते सोम विश्वेषु धामसु ।
अध कामा इमे मम वसूयवो वि वो मदे वितिष्ठन्ते विवक्षसे ॥

ऋ० १०.२५.२॥

विनय

हे सोम ! मैं जानता हूँ कि तेरे हृदय को स्पर्श करनेवाले तेरे अनन्य भक्त जगह जगह पर विराजमान हैं। सब धामों में, सब स्थानों में, सब लोकों में तेरे ये निष्काम भक्त बैठे हुवे तेरा भजन कर रहे हैं। मैं अपनी भक्ति से तेरे हृदय को स्पर्श कर सकूँगा यह मैं नहीं जानता। कम से कम यह स्पष्ट देखता हूँ कि मैं तेरी निष्काम भक्ति नहीं कर सकूँगा। मुझमें तो ये बहुत सी कामनायें विद्यमान हैं। मुझ में महत्त्वाकांक्षायें, बड़े बनने की, प्रतिष्ठा पाने की, सिद्धियां प्राप्त करने की इच्छायें विद्यमान हैं ऐसे नाना प्रकार के वसुओं को चाहने वाली

इच्छायें विविध प्रकार से मुझमें उठ रही हैं। यह ठीक है कि मेरी ये इच्छायें आखिर में तेरी प्रसन्नता व परितृप्ति के लिये ही उठ रही हैं, इन्होंने कभी तुझे ही समर्पित हो जाना है, पर तो भी अभी इन्होंने मेरे हृदय को घेर रखा है। हे सोम ! क्या मेरी इन कामनाओं को पूरा करके तुम मेरे हृदय को हलका न करोगे ? नहीं, तुम इन्हें पूरा करो और मेरी परि-तृप्ति पाकर महान् होवो। वैसे तो तेरे हृदय तक पहुँच करने वाले तेरे ज्ञानी निष्काम भक्त ही तुझे अधिक सच्चे अर्थों में बढ़ा रहे हैं, परन्तु मेरी यह अर्थार्थी भक्ति, मेरी ये इच्छायें भी अन्त में तुम्हें बढ़ाने के लिये ही हैं। इसलिये, हे सोम ! तुम मेरी इन कामनाओं को पूरा करो, तो शायद मैं भी कभी तेरा निष्काम उपासक हो जाऊँगा, तेरा हृदय स्पर्शी भक्त बन जाऊँगा।

शब्दार्थ—

(सोम) हे सोम ! (ते) तेरे (हृदिस्पृशः) हृदय को स्पर्श करने वाले भक्त (विश्वेषु धामसु) सब स्थानों में (आसते) बैठे हुवे हैं, विराजमान हैं। (अध) पर मुझमें (इमे) ये (मम) मेरी (वसूयवः) ऐश्वर्यों को चाहने वाली (कामाः) कामनायें (वः विमदे) तुम्हारी प्रसन्नता व परितृप्ति के लिये (वि तिष्ठन्ते) विविध प्रकार से उठ रही हैं, (विवक्षसे) तुम महान् होते हो।

*

* *

आ पवस्व दिशांपते आर्जीकात् सोम मीढ्वः ।
ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुतः इन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥

ऋ० ९.११३.२॥

विनय

सोम ! तुम इन्द्र के लिये परिस्रुत होओ । हे ज्ञानमय भक्तिभाव ! तुम मुझ आत्मा के लिये परिस्रुत होओ । तुम कहां से परिस्रुत होते हो और तुम कैसे अभिषुत होते हो यह मैं जानता हूँ । हे दिशाओं के पति ! तुम ऊपर से बरसते हो और दिशाओं का, चारों दिशाओं में बसने वाले संसार का रसप्रदान द्वारा परिपालन करते हो । तुम मेरे अन्दर की दिशाओं के, चतुर्विध प्रेरणाओं के भी रक्षक हो । पर तुम ऊपर जिस स्थानविशेष से आते हो वह 'आर्जीक' है, ऋजु-भाव है, सरलता और समता का लोक है । जहां सरलता अकुटिलता नहीं है वहाँ तुम्हारा प्रादुर्भाव नहीं हो सकता । सरलभाव तुम्हारी जन्मभूमि है । इस 'आर्जीक' से आते

हुवे, हे सिंचन करने वाले ! तुम मेरे सम्पूर्ण अन्तस्तल को अपने रस से सिंचित कर देते हो। मेरे रोम रोम को अपने अमृत से नहला देते हो। इस प्रकार के हे सोम ! तुम मुझमें आओ। सत्य वचन, सत्य व्यवहार, श्रद्धा और तप द्वारा उत्पन्न होकर मुझमें आओ। मैं खूब जानता हूँ कि सत्यवचन और सत्यकर्म के नियमों का पालन किये बिना भक्तिभाव नहीं उदित होता है। श्रद्धापूर्वक कष्ट सहे विना प्रेम का प्रसाद नहीं मिलता है। इन चारों साधनों को साधित कर लेने पर ही ज्ञान का निष्पादन होता है, भक्ति रस का प्रादुर्भाव होता है। इस लिये वचन और कर्म में सत्य का व्रत लेकर अटल श्रद्धा को धारण करके और कठोर तपस्या करता हुवा ही मैं प्रार्थना कर रहा हूँ "हे सोम ! तुम मुझमें आओ मेरी आत्मा तुम्हारी प्यासी है, इसलिये हे इन्दो ! तुम मुझमें परिस्रुत होओ, इस आत्मा के लिये क्षरित होओ।"

शब्दार्थ—

(सोम) हे सोम ! (दिशांपते) हे दिशाओं के पालक ! (मीढ्वः) हे सिंचन करने वाले ! तुम (आर्जीकात्) सरलता के लोक से (आपवस्व) आओ, क्षरित हो। तुम (ऋतवाकेन) सत्य वचन से (सत्येन) सत्य व्यवहार से (श्रद्धया) श्रद्धा से (तपसा) तप से (सुतः) अभिषुत होते हो, उत्पन्न होते हो। (इन्दो) हे सोम ! तुम (इन्द्राय) आत्मा के लिये (परिस्रव) परिस्रुत होओ।

*

* *

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम् ।
तत्र मा धेहि पवमान अमृते लोक अक्षिते, इन्द्रायेन्दो परिस्रव ।।

ऋ० ९.११३.७।।

विनय

सोम ! इन्द्र के लिये परिस्रुत होओ। हे ज्ञानमय भक्ति-भाव ! तुम मुझ आत्मा के लिये प्रादुर्भूत होओ। मैं तुम्हारी अद्भुत महिमा को जानता हूँ। मैं जानता हूँ कि तुम मुझे ऊँचे से ऊँचे लोक में ले जा सकते हो, मोक्ष सुख तक पहुँचा सकते हो। इसलिये हे पवमान ! हे पवित्रतम ! तुम मुझे वहां पहुँचा दो जहां प्रकाश कभी मिटता नहीं, जहां अविनश्वर ज्योति है। तुम मुझे उस लोक में स्थापित करदो जहां सुख

निहित है, जहां आनन्द का अखण्ड निवास है। इस प्रकार तुम मुझे अमृत के उस अक्षीण लोक को प्राप्त करा दो जहां मृत्यु का कभी प्रवेश नहीं, जहां क्षय की कोई आशंका नहीं। हे क्षरित होनेवाले सोम ! तुम मुझे यह सब कुछ प्राप्त करा सकते हो। तुम्हारा सहारा पाकर मैं परमधाम तक पहुँच सकता हूँ। इसीलिये मेरा आत्मा तुम्हें पाना चाह रहा है, तुम्हारी एक एक बूंद के लिये व्याकुल हो रहा है, इसलिये हे इन्दो ! तुम मुझमें परिस्रुत होओ, इस आत्मा के लिये क्षरित होओ।

शब्दार्थ—

(यत्र) जहां (अजस्रं) अविनश्वर (ज्योतिः) ज्योति है (यस्मिन् लोके) जिस लोक में (स्वः) सुख, आनन्द (हितं) रखा हुवा है, (पवमान) हे पवित्रतम सोम ! तू (मा) मुझको (तत्र) वहां (अमृते) मरण रहित (अक्षिते) क्षय रहित (लोके) लोक में (धेहि) स्थापित करदे। (इन्दो) हे सोम ! (इन्द्राय) आत्मा के लिये (परिस्रव) परिस्रुत होओ।

❀

❀ ❀

प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नियंसते ।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अप अर्चन्ननु स्वराज्यम् ।।

ऋ० १.८०.३।।

विनय

हे इन्द्र ! तू अपने राजत्व को, अपने राज्य को नहीं अनुभव करता । तू अपने स्वराज्य को नहीं पहिचानता । यह शरीर-राज्य, यह सब अन्दर का साम्राज्य तेरा ही है । इस समय इस पर बेशक वृत्र ने कब्ज़ा कर रखा है । कामरूप, पापरूप विदेशी शत्रु ने इसे दबा रखा है । तेरी इन्द्रियां, तेरी मनोवृत्तियां, तेरी वासनायें और तेरी बुद्धियां भी इस समय उस वृत्र की ही गुलामी कर रही हैं। परन्तु असल में हे इन्द्र ! ये तेरी ही प्रजा हैं । तू अब अपने स्वराज्य का आदर कर । इन अपनी प्रजाओं का फिर राजा हो । अपनी इस स्वराज्य-साधना के लिये उठ । देख, तेरे सिवाय इस राज्य का अन्य कोई अधिपति नहीं हो सकता । इसलिये हे इन्द्र ! तू स्वराज्य स्थापना के लिये उठ । आगे बढ़ । मुक़ाबिला कर ।

सब शत्रुओं को धर्षित कर, हरा। तेरे वज्र को इस संसार में कोई नहीं रोक सकता। तेरी शक्ति की गति अप्रतिहत है। क्या तू कहता है कि राग-द्वेष दुर्जेय हैं ? नहीं, तेरे संकल्प वज्र के लिये कुछ भी दुःसाध्य नहीं है, तेरी प्रतापाग्नि में सब राग द्वेष आदि क्लेश भस्मावशेष हो जांयगे। तेरी स्वराज्य स्थापना में कौन बाधा डाल सकता है ? क्या तू समझता है कि संस्कार बड़े प्रबल हैं ? नहीं तू अपने बल को नहीं समझता। तेरा बल तो निःसंदेह 'नृम्ण' है, सबको नमा देने वाला बल है, सच्चा बल है। वह दृढ़ से दृढ़ संस्कारों को भी हटा देगा, मिटा देगा। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं पैदा हुई जिसे तेरा बल नमा न देवे। इस प्रकार हे इन्द्र ! तू अपने वज्र द्वारा, अपने वीर्य द्वारा 'वृत्रासुर' का हनन कर और विजयी होकर अपनी प्रजाओं को प्राप्त कर। एवं हे इन्द्र ! तू अपने स्वराज्य को स्थापित कर, अपने स्वराज्य को फिर स्थापित कर।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे आत्मन् ! तू (स्वराज्यं अनु) स्वराज्य के अनुकूल (अर्चन्) साधना करता हुवा (प्रेहि) आगे बढ़ (अभीहि) मुक़ाबिला कर (धृष्णुहि) शत्रु का धर्षण कर, (ते) तेरा (वज्रः) वज्र (न) नहीं (नियंसते) रोका जा सकता। (ते) तेरा (शवः) बल (हि) निश्चय से (नृम्णं) सबको नमाने वाला है, सच्चा बल है, (वृत्रं) वृत्रासुर को, कामरूप या पापरूप वृत्र को (हनः) हनन कर और (अपः) अपनी प्रजाओं को (जय) जीत।

❀

❀ ❀

इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवो अनुत्तं वज्रिन् वीर्यम् ।
यद्ध त्यं मायिनं मृगं तमु त्वं मायया वधी रर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥
ऋ० १.८०.७॥

विनय

हे इन्द्र ! तू स्वराज्य की साधना में सफल होवेगा, अवश्य सफल होवेगा। माया वाले मृग को माया द्वारा ही मार कर अवश्य सफल होवेगा। क्योंकि तेरा वीर्य, तेरा बल स्वाभाविक है। संसार में एक तू ही है जिसके लिये बल कहीं बाहर से प्रेरित नहीं हुवा है, कहीं अन्यत्र से नहीं आया है। यह तेरे ही अन्दर से निकला है, तेरा अपना है, तेरा स्व-बल है। स्व-बल से ही स्व-राज्य प्राप्त किया जा सकता है। तेरे मुक़ाबिले में जो मायावी मृग है उसके पास स्वबल नहीं है, वह छल कपट द्वारा तेरे ही बल को तेरे विरुद्ध प्रयुक्त कर रहा है और राज्य कर रहा है। परन्तु ऐसा माया का बल कितनी देर टिक सकता है ? वह नहीं जानता कि माया उत्पन्न होते ही अपने साथ विरोधी माया को भी उत्पन्न करती

है। माया जन्म के साथ ही अपने विनाश के लिये अभि-शापित होती है। ऋण विद्युत् धन विद्युत् को पैदा किये बिना उत्पन्न ही नहीं हो सकती है। इसलिये हे आत्मन्! तू इन भयंकर से भयंकर भी दीखने वाले माया के बने मृगेन्द्रों से, प्रकृति के पुतलों से, क्यों भयभीत होता है? यह माया (यह प्रकृति) तो स्वयं विनश्वर स्वभाव वाली है? अपने में ही विरुद्धता रखने के कारण स्वयं विनष्ट हो जाने वाली है। देख, ये परस्पर विरोधी रज और तम स्वयं लड़ रहे हैं, उनमें धनात्मक होने से यद्यपि रज विजयी हो रहा है पर वह भी उससे अधिक धनात्मक सत्व के मुकाबिले में दब जाता है और फिर रज और तम के बिना न रह सकने के कारण वह विजयी सत्व भी तेरे सामने से स्वयं भाग जाता है। यह देह घात करने से कभी नष्ट नहीं होता, फिर फिर पैदा हो जाता है। परन्तु जब तू इस अन्नमय प्रकृति से बने देह को ही ठीक रख कर इसके अन्दर इसकी विरोधिनी प्राणमय, मनोमय आदि प्रकृति की साधना करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है तो यह देह स्वयं सदा के लिये छूट जाता है। यह चंचल मन जिस राजसिक प्रकृति का बना है जब तू उसी प्रकृति का आश्रय लेकर प्रतिक्षण अपना विरोधी मनन, एकाग्रता का मनन चलाता है तो यह मन एकाग्र हो जाता है, शान्त चुप हो मर जाता है। इसी प्रकार तू इन अजेय संस्कारों को भी अपने निरुद्ध संस्कारों द्वारा ही जय कर लेता है। एवं हे इन्द्र! तू देह से देह को दग्ध करता है, मन से मन को मार लेता है, संस्कारों से संस्कारों को नष्ट कर देता है। प्रकृति के पुतलों को प्रकृति द्वारा ही पिघला देता है, इन माया के मृगों

को माया द्वारा ही मार देता है। पर यह माया माया से इसीलिये मरती है चूँकि इसमें कुछ भी स्व-बल नहीं है। अतः, हे इन्द्र! जब तू अपना स्वबल प्रकट करेगा तो निःसंदेह तेरा स्वराज्य हो जावेगा, तेरा स्वराज्य स्थापित हो जावेगा।

शब्दार्थ-

(इन्द्र) हे इन्द्र! (अद्रिवः) हे दुर्भेद्य शस्त्र वाले या वृत्र को वश में करने वाले! (वज्रिन्) हे वज्र वाले! (तुभ्यं इत्) तेरे लिये ही (वीर्यं) वीर्य, बल (अनुत्तं) अप्रेरित है, कहीं बाहर से आया नहीं है। (यत् ह) जिस कारण से निश्चय से (स्वराज्यं अनु) स्वराज्य के लिये (अर्चन्) साधना करता हुवा (त्वं) तू उस प्रसिद्ध (मायिनं) माया वाले (मृगं) दूसरे की वस्तु को छीनने वाले असुर का (तं ऊ) ऐसे असुर का भी (मायया) माया द्वारा ही (अवधीः) वध कर देता है।

स्वादोरित्था विषूवतो मध्वः पिबन्ति गौर्यः ।
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभसे वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥

ऋ० १.८४.१०॥ सा० पू० ५.१.३.१॥
सा० उ० ३.२.१५॥ अथर्व० २०.१०९.१॥

विनय

स्वराज्य में ही प्रजाओं को असली सुख मिलता है। स्वराज्य में ही प्रजायें अपना अधिक से अधिक विकास कर सकती हैं। जब अन्दर स्वराज्य स्थापित हो जाता है, जब इस शरीरराज्य की बागडोर इन्द्र (आत्मा) के अपने हाथों में आ जाती है तब गौरिओं को, इन्द्रिय आदि इन्द्र-प्रजाओं को जो अलौकिक दिव्यसुख मिलता है, उनकी जो अद्भुत शोभा, दीप्ति बढ़ती है उसका हम साधारण लोग इस समय अनुमान भी नहीं कर सकते। क्योंकि हमारे अन्दर या तो आत्मिक अराजकता फैली हुई है या किसी असुर का विदेशी शासन चल रहा है, स्वराज्य नहीं है। इसलिये हमारे अन्दर तो ये गौरियां इस समय विषयरूपी-मदिरा का ही पान कर

रही हैं और इस नशीले आत्मघातक 'सुख' को ही सुख समझ रही हैं। इन्हें उस दिव्य सोमरस के पान का सुख अभी कैसे मिल सकता है जो आत्मराज्य हुवे बिना नसीब नहीं होता ? हां, जहां कहीं यह वृषा आत्मा फिर अपने 'स्व'राज्य को संभाल लेता है वहां की अवस्था बिलकुल पलट जाती है। वहां ये इन्द्रियां स्वराज्य के अनुकूल चलने वाली संयमयुक्त हो जाती हैं। ये वसुरूप, स्वराज्य की संपत्तिरूप या स्वराज्य की सच्ची वासिनी हो जाती हैं। ये अपनी प्रदीप्ति के लिये बलवान् इन्द्र के साथ चलने वाली हो जाती हैं। इन्द्र के साहचर्य से सचमुच इनकी शोभा, दीप्ति अकल्पनीय प्रकार से बढ़ जाती है। प्रातिभ श्रावण वेदन आदि सिद्धिओं तथा नाना अन्य अद्भुत शक्तियों के रूप में ये अत्यन्त शोभित और प्रदीप्त हो जाती हैं। उस समय ये गौरियां स्वाधीनता को पाकर इन्द्र के साथ में अत्यन्त आनन्द को प्राप्त करती हैं। तभी इन्हें उस 'मधु' का, उस मोक्षसुख का, उस सोम का, पान प्राप्त होता है जो स्वादु है, ब्रह्मानन्द के रस से रसीला है, दिव्य माधुर्य से भरा है और जो व्यापक है, सबके लिये समान है, भौतिक सुख की तरह एकदेशी और सापेक्ष नहीं है, अतएव विषय-मदिरा की तरह नशीला भी नहीं है। यही सच्चा सोम रस का पान है जिसे आत्मवश्य इन्द्रियां प्राप्त करती हैं। यही असली भोग है, 'शुद्ध भोग' है, अविद्या आदि क्लेशमलों से सर्वथा रहित निर्मल भोग है, जिसको मुक्तावस्था में आत्मशक्तिरूप गौरियां उपभोग करती हैं। ओह! हम बद्ध पुरुष तो कल्पना भी नहीं कर सकते कि "शुद्ध भोग" भी कोई वस्तु हो सकती है, "व्यापक मधु" भी कोई वस्तु हो सकती है।

शब्दार्थ—

वे (गौर्यः) प्रकाशमान इन्द्रियां या आत्मशक्तियां (इत्था) इस प्रकार से (स्वादोः) स्वादु, ब्रह्मानन्द रस से रसीले (विषूवतः) व्यापक (मध्वः) सोम रस का, शुद्ध भोग का, मोक्ष सुख का (पिबन्ति) पान करती हैं (याः) जो (स्वराज्यं अनु) स्वराज्य का अनुसरण करने वाली होकर (वस्वीः) वसुरूप या वासिनी होकर और (शोभसे) अपनी शोभा व दीप्ति के लिये (वृष्णा) बलवान् (इन्द्रेण) आत्मा से (सयावरीः) साथ मिलकर चलने वाली हो कर (मदन्ति) आनन्दयुक्त होती हैं ।

*

* *

२६ पौष

यच्चिद्धि सत्य सोमपा अनाशस्ता इव स्मसि ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोषु अश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ।।

ऋक्० १.२९.१।। अथर्व० २०.७४.१।।

विनय

यद्यपि हम बुरे हैं, अप्रशस्त हैं, तो भी हे इन्द्र ! तुम हमें श्रेष्ठ बना दो, प्रशस्त बना दो । तेरे भक्त होकर हम बिलकुल गये बीते तो नहीं हो सकते, तो भी हम में जो बुराई सी है उन्हें तुम अपनी दया से दूर कर दो । तुम्हारी दया पाकर हम प्रशस्त न बन सकेंगे तो हम और कैसे प्रशस्त बनेंगे ? हे सत्य स्वरूप ! हे सोमपान करने वाले ! तुम अपनी सत्यमयता द्वारा, अपने सोमपान के गुण द्वारा हमें प्रशस्त करदो । इस संसार में भौतिक साधारण प्रशस्तता भौतिक संपत्तिओं द्वारा होती है इसलिये हे बहुत ऐश्वर्य वाले ! तुम हमें गौओं और अश्वों के दान द्वारा और इन गौओं और अश्वों के शोभन प्रकार के तथा बहुत संख्या में दान द्वारा प्रशस्त बना

दो। हम लोगों में बड़ी सुन्दर सुन्दर गौएँ और अश्व होवें तथा ऐसे सहस्रों गौएँ और अश्व होवें। पर ये बाहर की गौएँ और अश्व निरर्थक हैं, भार भूत हैं और हमें पराधीन करने वाले हैं जब तक कि हम लोग अन्दर की असली गौओं और अश्वों में प्रशस्त न होवें। हमें वास्तव में प्रशस्त बनाने वाली जो असली गौएँ हैं वे तो वाणी आदि इन्द्रियां हैं, आत्म-शक्तियां हैं और जो असली अश्व हैं वे वीर्य आदि बल हैं, आत्मतेज हैं। ये ही हमारे अपने गौ और अश्व हैं। हे तुवीमघ! तुम अपने सत्य द्वारा हमारी वाणी आदि इन्द्रियों को श्रेष्ठ सुन्दर और शुभ्रि बनाओ तथा ऐसी कृपा करो कि ऐसी सुन्दर आत्मशक्तियां हम में सहस्रों प्रकार से प्रकट होवें, तुम अपने सोमपान के गुण द्वारा हमारे वीर्य आदि बलों को उत्तम, तेजस्वी और शोभन बनाओ तथा ऐसी कृपा करो कि ये आत्मतेज हम में हज़ारों प्रकार से चमके। हे इन्द्र! इस प्रकार तुम हम अप्रशस्तों को प्रशस्त कर दो, गौओं और अश्वों द्वारा प्रशस्त कर दो।

शब्दार्थ—

(सत्य) हे सत्य स्वरूप! (सोमपाः) हे सोमपान करने वाले! (यत् चित् हि) यद्यपि हम (अनाशस्ताः इव) अप्रशस्त से, बुरे से (स्मसि) हैं (तु) तो भी (तुविमघ) हे बहुत ऐश्वर्य वाले! (इन्द्र) इन्द्र! तू (नः) हमें (शुभ्रिषु) शोभन, श्रेष्ठ (सहस्रेषु) हज़ारों प्रकार के (गोषु) गौओं में (अश्वेषु) तथा अश्वों में (आ शंसय) पशस्त कर दे।

*

* *

सस्नतु त्या अरातयो बोधन्तु शूर रातयः ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोषु अश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥
ऋ० १.२९.४॥ अथर्व० २०.७४.४॥

विनय

हम अप्रशस्त इसीलिये हैं चूंकि हममें ये बुरी वृत्तियां जाग रही हैं और अच्छी वृत्तियां सो रही हैं। हे शूर इन्द्र! तुम अपने पराक्रम से इस क्रम को उलटा दो। ऐसी कृपा करो कि हममें वे अदान की बुरी वृत्तियां सो जावें और दान की शुभ वृत्तियां जाग जावें। हममें अदान की, कंजूसी की, स्वार्थ की, हिंसा की आसुरी वृत्तियां प्रसुप्त हो जावें और दग्ध-बीजभाव को प्राप्त हो जावें तथा दान की, उदारता की, यज्ञ

की, प्रेम की दैवी वृत्तियां जाग जावें, और पूर्ण रूप में विकसित हो जावें। ये अरातियां, ये स्वार्थादि की क्लिष्ट वृत्तियां ही हैं जो हमें बुरा, अप्रशस्त बना रही हैं, अतः ये ही हमारी शत्रु हैं। हमारे बन्धु तो वे यज्ञ आदि की वृत्तियां हैं जो हमें शोभन बनाती हैं और हमें ऊँचा उठाती हैं। इसलिये हे शूर! तुम ऐसी लड़ाई लड़ो कि हमारे ये सब स्वार्थादि शत्रु अब इस हृदय की रणभूमि में सदा के लिये सो जावें, और ये यज्ञादि बन्धु इस हृदय-मन्दिर में सदा जागने वाले हो जावें। जब ऐसा हो जावेगा तो हममें अशोभन गौएँ तथा अशुभ अश्व नहीं रहेंगे, किन्तु हममें श्रेष्ठ ही आत्म-शक्तियां तथा श्रेष्ठ ही वीर्य प्रकट होवेंगे तथा सहस्रों प्रकार से प्रकट होवेंगे। इस तरह हे तुविमघ! तुम हमें अब प्रशस्त करदो, श्रेष्ठ गौओं तथा शुभ्रि अश्वों द्वारा प्रशस्त करदो।

शब्दार्थ—

(शूर) हे शूर! (त्याः) वे (अरातयः) अदान वृत्तियां, शत्रु (ससन्तु) सो जावें तथा (रातयः) दानवृत्तियां बन्धु (बोधन्तु) जाग जावें। (तु) इस प्रकार (तुवीमघ) हे बहुत ऐश्वर्य वाले (इन्द्र) इन्द्र! तू (नः) हमें (शुभ्रिषु) शोभन, श्रेष्ठ (सहस्रेषु) हजारों प्रकार के (गोषु) गौओं में (अश्वेषु) तथा अश्वों में (आ शंसय) प्रशस्त करदे।

❀

❀ ❀

नकि देवा मिनीमसि नकि रायोपयामसि, मंत्रश्रुत्यं चरामसि।
पक्षेभि रपिकक्षेभि रत्राभि संरभामहे ॥

ऋक्० १०.१३४.७॥ सा० पू० २.२.९.२॥

विनय

हे देवो! वेदोक्त देवो! हमने इस संसार में वेदमंत्रों की शरण ले ली है। हम समझ गये हैं कि मंत्रों के मनन करने से, वेदज्ञान पा लेने से, हम भवसागर से तर जांयगे। इस लिये हम अब वेद के अनुसार चलते हैं, वेदानुकूल ही आचरण करते हैं, मंत्रों से जो कुछ सुनते हैं, मंत्र क मनन से जो उपदेश ग्रहण करते हैं ठीक उसी के अनुसार अपना आचरण करते हैं। न तो हम किसी की हिंसा करते हैं, और नाहीं किसी को विमोहित करते हैं। क्रोध, द्वेष आदि के वश होकर हम न तो किसी भाई का हिंसन करते हैं, किसी को दुःख पहुँचाते हैं और न किसी भाई को लुभा ललचा कर, मोहित करके कोई अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं। जो द्वेषराग-ग्रस्त मलिनमन लोग हिंसा करने तथा धोखा देने में प्रवृत्त होते हैं वे तो पवित्र वेदमंत्रों के अध्ययन के अधि-

कारी ही नहीं होते, वे वेद के आशय को समझ ही नहीं सकते, और, हे देवो ! वे तुम्हें जान ही नहीं सकते। इस लिये हमने तो हिंसन और विमोहन के कीचड़ से सर्वथा निकल कर अब वेदमंत्रों की पावन शरण ले ली है। और इस प्रकार, हे देवो ! हमने तुम्हारे महान् अवलम्बन को ग्रहण कर लिया है। हमने अपने दोनों पार्श्वों से तुम्हारा सहारा ले लिया है और अपने दोनों बाहुओं से भी तुम्हारा आश्रय पकड़ लिया है। मानों हिंसा के त्याग द्वारा हमने 'पक्षों' से तुम्हारा सहारा ले लिया है, तो विमोहन के त्याग द्वारा हमने "अपिकक्षों" से भी तुम्हारा अवलम्बन पा लिया है। इस प्रकार पूरी तरह तुम्हारा अवलम्बन ग्रहण करके हम आज निश्चिन्त हो गये हैं और देख रहे हैं कि इस प्रकार तुम्हारा आंचल पकड़े हम ठीक ही रास्ते जांयगे, पुरुषार्थ को पा जांयगे, मनुष्य जन्म सफल कर जांयगे।

शब्दार्थ—

(**देवाः**) हे देवो ! हम (**नकिः**) न तो (**मिनीमसि**) हिंसा करते हैं (**आ**) और (**नकिः**) नहीं कभी (**योपयामसि**) विमोहन करते हैं, हम (**मंत्र श्रुत्यं**) मंत्र श्रुति के अनुसार ही (**चरामसि**) आचरण करते हैं। इस प्रकार हमने (**अत्र**) इस संसार में (**पक्षेभिः**) अपने पार्श्वों द्वारा (**अपिकक्षेभिः**) और अपने बाहुओं द्वारा तुम्हें (**अभिसंरभामहे**) सब तरफ़ से अवलम्बन कर लिया है।

❀

❀ ❀

यो भूतानां अधिपति र्यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः ।
य ईशे महतो महाँस्तेन गृह्णामि त्वामहं मयि गृह्णामि त्वामहम् ॥

यजु० २०.३२॥

विनय

मैं तेरे रूप को देख रहा हूँ, तेरे एक महान् रूप को देख रहा हूँ। हे परमात्मन्! इसी रूप में तुझ परमात्मा को मैं अपनी आत्मा में ग्रहण कर लेना चाहता हूँ। तू वह है जो सब भूतों का अधिपति है, सकल चराचर प्राणिमात्र का अधिष्ठाता और परिपालक है; तू वह है जिसके आधार पर सब लोक स्थित हैं, जिसके अन्दर सब अनन्तों लोक और सब ब्रह्माण्ड आश्रित हैं, स्थान पा रहे हैं; और तू वह महान् है जो महत् तत्व से आदि लेकर सब प्रकृति के विकारों का, आकाश आदि महान् से महान् पदार्थों का मालिक है, ईश्वर है। हे महान्! उसी तेरे महत्त्व से, उसी तेरे स्वरूप द्वारा

मैं तुझे ग्रहण करता हूँ। मुझ में (अपने में) मैं तुझे ग्रहण करता हूँ। हां, मैं क्षुद्र तुझ इतने महान् को अपने में धारण करता हूँ। इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि मैं तुझे तेरे ही उस महत्त्व द्वारा, तेरे ही उस ईश्वरत्त्व द्वारा धारण करता हूँ जिससे कि तू इतना महान् हुवा है, इतना ईश्वर हुवा है। और '(मयि) मुझ में' धारण करने का भी तो यही अर्थ है कि तेरा होकर, तेरा बन कर मैं मुझ में (अपने में) तुझे धारण करता हूँ, आत्मा बन कर तुझ आत्मा को धारण करता हूँ। ओह! इस प्रकार तुझे अपने में धारण करके मैंने सब तेरा साम्राज्य, सब तेरा ब्रह्माण्ड अपने में धारण कर लिया है, सचमुच सब कुछ अपने में धारण कर लिया है।

शब्दार्थ—

(यः) जो (भूतानां) सब प्राणियों का (अधिपतिः) अधिष्टाता और पति है, (यस्मिन्) जिसमें (लोकाः) सब लोक (अधिश्रिताः) आश्रय पा रहे हैं और (यः) जो (महान्) महान् (महतः) सब महत् आदि महान् वस्तुओं का (ईशे) ईश्वर है, (तेन) उससे, उसके इस महत्त्व व ईश्वरत्त्व द्वारा (अहं) मैं (त्वां) तुझ को (गृह्णामि) ग्रहण करता हूँ, धारण करता हूँ; (मयि) मुझ में, अपने में (अहं) मैं (त्वां) तुझ को (गृह्णामि) धारण करता हूँ।

❀

❀ ❀

देखो

सत्य मूचुर्नर एवा हि चक्रुः।

(ऋ० ४.३३.६)

'नर' लोगों ने सदा

सत्य बोला है

और वैसा ही

किया

है

शिशिर ऋतु
(विविध छन्द)

शिशिर की ऋतुचर्या

लक्षण—पूर्ण जाड़े की ऋतु के बाद जब जाड़ा कुछ कम होने लगता है, शीतल ढलने लगता है पर इतना कम नहीं होता कि समता (वसन्त) की मौसम आ जाये उसका नाम शिशिर है। इसे पतझड़ भी कहते हैं, क्योंकि इस समय पत्तों को शीर्ण करने वाली वायु चलने लगती है। प्राय: इसके महीने माघ और फाल्गुन हैं।

महिमा—शिशिर में सूर्य भगवान् उत्तरायण हो जाते हैं। उत्तरायण वह दिव्य प्रशस्त काल है जिस में शरीर त्यागने के लिये भीष्मपितामह जैसे महा पुरुष छ: महीने प्रतीक्षा करते रहे थे। यह ज्ञानियों को मुक्ति प्रदान करने वाला ज्योतिर्मय काल शिशिर में प्रारम्भ होता है। इसमें अति शीत की सब तंगियां हट जाती हैं। सह्य अच्छा शीत पड़ता है। जो शीत पड़ता है वह वायु का शीत होता है, तीखा कठोर शीत समाप्त हो जाता है। इसमें चलने वाली वायु से वृक्ष बनस्पतिओं के पुराने पत्ते फल आदि झड़ने लगते हैं और वे वसन्त के नये अंकुर पाने के लिये तैयार हो जाते हैं।

गुण—शिशिर ऋतु शीतल, अत्यन्तरूक्ष, वायु और अग्नि को बढ़ाने वाला है।

पथ्यापथ्य—इस में हेमन्त जैसा ही व्यवहार करना चाहिये। भेद यह है कि हेमन्त स्निग्ध होती है, परन्तु यह शिशिर आदान काल आ जाने से अतिरूक्ष होती है तथा 'वात' कारक होती है। इसलिये भोजनाच्छादन में वात वृद्धि से बचने का ध्यान रखना चाहिये। वात पित्त कफ किस किस ऋतु में संचित कुपित व शान्त होते हैं, इसके लिये निम्नलिखित तालिका देखिये

दोष	संचित	कुपित	शान्त
वात	ग्रीष्म में	वर्षा में	शरद् में
पित्त	वर्षा में	शरद् में	हेमन्त में
कफ	शिशिर में	वसन्त में	ग्रीष्म में

एवं शिशिर में कफ संचित होता है। यह संचित कफ इस ऋतु की शीतलता के साथ साथ शुष्कता के कारण इस समय तो कुपित नहीं होता, पर वसन्त में जाकर कुपित होता है। अतः इस ऋतु में स्निग्ध पदार्थों का अति सेवन भी छोड़ देना चाहिये जिससे कफ अधिक संचित न हो सके।

कहावत के अनुसार माघ में मिश्री तथा फाल्गुन में चना नहीं खाना चाहिये।

*

* *

माघ मास

माघ (मकर)

के लिये

प्राणदायक व्यायाम

टखनों (गिट्टों) को नीरोग करने वाला

पूर्व निर्दिष्ट विधि से खड़े हो जाइये। हाथ नीचे लटके हों, छाती आगे उभरी हो। हथेलियां शरीर की ओर रखते हुवे हाथों की मुट्ठियां बांध लीजिये और भुजाओं की मांसपेशिओं को कस लीजिये। अब पैर के अंगूठों के बल पर अपने को खड़ा करके घुटने को मोड़ते हुवे सारे शरीर को जहां तक नीचे फ़र्श के पास ले जा सकें ले जाइये। फिर धीरे धीरे सीधे खड़े हो जाइये। इस सारे व्यायाम में अपने पैर के अंगूठों पर ही सारा शरीर तुला रहना चाहिये और एड़ियां फ़र्श से न छूनी चाहियें। जब अपना शरीर नीचे ले जा रहे हों तो गहरा श्वास अन्दर भरिये और जब खड़े हो रहे हों तो श्वास बाहिर निकालिये।

अपना मन टखनों, गुल्फों (गिट्टों) पर रखिये।

ध्यान—ध्यान कीजिये कि "मेरी टांगे मज़बूत हैं। मुझ में चलने का अपार सामर्थ्य है। मैं पूर्ण स्वस्थ हो रहा हूँ,······"।

इन अंगों के लिये गौणतया वैशाख, श्रावण और कार्तिक मास की व्यायामों से भी लाभ पहुँचता है।

मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो ।
सकृत् सु नो मघवन्निद्र मृडयाधा पितेव नो भव ।।

ऋ० १०.३३.३।।

विनय

मैं तेरा स्तोता हूं, तेरा सन्ध्या वन्दन करने वाला हूँ, तेरा हवन पूजन करनेवाला हूँ। तो भी, हे शतक्रतो ! मुझे ये 'आधियां', ये मानसिक पीड़ायें खाये जा रही हैं। जैसे पान चढ़ाये गये, आटे से स्नान कराये गये सूत को चूहे काटने लगते हैं, सब तरफ़ से चिपट कर खाने लगते हैं, उसी तरह ये मानसिक पीड़ायें मुझे नाना तरह से सता रही हैं, खाये जा रही हैं। अपूर्ण रहती हुई मेरी अनगिनत कामनायें मुझे काट रही हैं, काम क्रोध लोभ मुझमें उछल रहे हैं, रागद्वेष मुझे पीड़ित कर रहे हैं, नाना मोह मुझे दबा रहे हैं, भयंकर भय मुझे व्यथित कर रहे हैं, मद मत्सर मुझे मार रहे हैं, विविध चिन्तायें
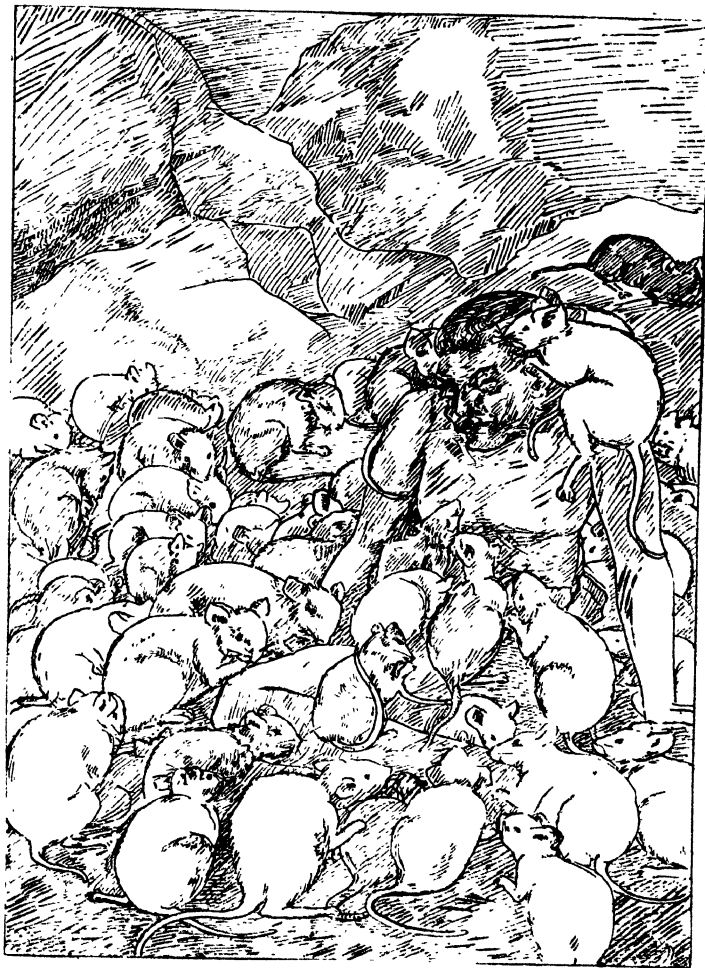
मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो ।
सकृत् सु नो मघवन्निन्द्र मृळयाधा पितेव नो भव ॥

मुझे जला रही हैं, इस प्रकार अनगिनत आधियां मुझ पर सब तरफ़ से चढ़ रही हैं, मुझे पल पल में व्याकुल कर रही हैं। हे प्रभो! मैं कब तक इनका भक्ष्य बना रहूँगा? कब तक इस तरह बेचैन बना रहूँगा? इनसे मेरी कौन रक्षा करेगा? तेरे स्तोता की और कौन रक्षा करेगा? हे मघवन्! तुम्हीं मुझे अब एक बार अच्छी तरह सुखी कर दो, इन आधियों को हटा कर, इन मूषकों को भगाकर मुझे सुखी करदो और पिता की तरह मेरे पालक होजाओ। तेरे सिवाय इस दुनियां में मेरा रक्षक कौन है? मेरा पिता कौन है? इसलिये हे इन्द्र! तुम्हीं मुझ स्तोता के, मुझ पुत्र के पिता होओ, रक्षक होओ। पिता की तरह तुम मुझे अब ऊपर अपनी गोद में उठा लेओ, मुझे अपनी उस शान्त, निरुपद्रव, सुरक्षित शरण में उठा लेओ जहां कभी इन आधियों की पहुँच नहीं है, जहां कभी इन मूषकों की गति नहीं है।

शब्दार्थ—

(शतक्रतो) हे बहुत कर्म वाले! (ते) तेरे (स्तोतारं) स्तोता होते हुवे भी (मा) मुझको (आध्यः) मानसिक पीड़ायें (वि अदन्ति) विविध प्रकार से खा रही हैं (मूषो न) जसे चूहे (शिश्ना) आटे से स्नान कराये गये, पान किये हुवे सूत को खाते हैं। (मघवन्) हे ऐश्वर्य वाले! (इन्द्र) हे इन्द्र! तू (नः) हमें (सकृत्) एक बार (सु) अच्छी तरह (मृडय) सुखी करदे, (अध) और (नः) हमारा (पिता इव) पिता की तरह रक्षक (भव) होजा।

❀

❀ ❀

वयं घा ते त्वे इद्विन्द्र विप्रा अपि ष्मसि ।
न हि त्वदन्यः पुरुहूत कश्चन मघवन्नस्ति मर्डिता ॥

ऋ० ८.६६.१३

विनय

हे परमेश्वर ! हम तेरे हैं, निश्चय से तेरे हैं। हम सोच समझ कर तेरे हो चुके हैं, अपने आपको तुझे समर्पित कर चुके हैं। और अब तुझ में ही रहना चाहते हैं, तुझ में ही अपना सब आत्मविकास पाना चाहते हैं। ज्ञानी, विप्र भी हम तुझ में, तेरे आश्रय से ही होना चाहते हैं। वह ज्ञान तो ज्ञान नहीं है, निरा अज्ञान है, जो तेरे आश्रय से नहीं उत्पन्न हुआ है। ऐसी विप्रता को, ऐसी पण्डिताई को हम क्या करेंगे, जो हमें तुझ से दूर करने वाली हो। उससे तो मूर्खता भली है। हमें पण्डित कहलाने की, ब्राह्मण कहलाने की, विद्वान् कहलाने की ज़रा भी इच्छा नहीं है, यदि यह तुझ से दूर

हटने से मिलती हो। हम तो संसार के हरेक ज्ञान में, हरेक कर्म में, हरेक बात में पहिले यह देख लेते हैं कि उसमें तेरा अवलम्बन है कि नहीं। जिसमें तेरा अवलम्बन, तेरा निवास नहीं होता उससे हमें कुछ भी मतलब नहीं रहता, फिर वह वस्तु इस संसार में चाहे बड़े से बड़ा पाण्डित्य हो, बड़े से बड़ा धन हो, बड़ी से बड़ी सेना हो, बड़े से बड़ा साम्राज्य हो। हमारे लिये वह सब निस्सार है। क्योंकि हमने खूब अच्छी तरह जान लिया है कि इस संसार में तेरे सिवाय और कहीं सुख नहीं है, तेरे सिवाय इस संसार में और कोई सुख देने वाला नहीं है, दे सकने वाला ही नहीं है। हमने संसार की एक एक वस्तु को परख परख कर देख लिया है कि कहीं भी सुख नहीं है जहां कि तू नहीं है। तो हे पुरुहूत! हे सदा सब से बहुत बार पुकारे गये प्रभो! तुझे छोड़ कर हम और कहां जावें? हम तो इसलिये हे मघवन्! तेरे होकर शान्त हो गये हैं। तेरे हो गये हैं, पूरी तरह तेरे हो गये हैं।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (वयं) हम (घ) निश्चय से (ते) तेरे हैं, और (त्वे) तुझ में, तेरे आश्रय से (इत् उ) ही हम (विप्राः) ज्ञानी, विप्र (अपि) भी (स्मसि) होवें। (पुरुहूत) हे बहुतों से पुकारे गये! (मघवन्) हे ऐश्वर्य वाले! (त्वत्) तुझ से (अन्यः) अन्य (कश्चन) कोई (मर्डिता) सुख देने वाला (हि) निश्चय से (न) नहीं (अस्ति) है।

*

* *

३ माघ

यद् द्याव इन्द्र ते शतं, शतं भूमी रुत स्युः।
न त्वा वज्रिन् सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥

ऋ० ८.७०.५. । सा० पू० ३,२.९.६। सा० उ० २.२.११ ॥
अथर्व २०. ८१. १ । २०. ९२. २० ॥

विनय

परमेश्वर ! यह जो विशाल द्यौ दीख रहा है, यदि ऐसे ऐसे सैकड़ों द्युलोक उत्पन्न हो जांय, ऐसे ऐसे सैकड़ों आकाश उत्पन्न हो जांय तो भी वे तेरी अनन्तता को नहीं पहुँच सकते। यह विस्तृत पृथिवी ही नहीं, किन्तु यदि ऐसी ऐसी सैकड़ों पृथिवियां एकत्रित कर दी जांय तो भी वे तेरे विस्तार को नहीं व्याप सकतीं। यह जीवों से भरी भूमि ही नहीं, किन्तु यदि ऐसी ऐसी सैकड़ों भूमियां हो जाँय तो भी उनके अनन्तों जीव मिलकर तेरे चैतन्य का पार नहीं पासकते। हे वज्रिन् ! हे अनन्त सामर्थ्य ! यह एक जाज्वल्यमान सूर्य तो क्या, ऐसे सहस्रों सूर्य ऐसे अनन्तों सूर्य मिलकर चमकें, एक बार इकट्ठे

होकर चमकें तो भी वे तेरी ज्योति की बराबरी नहीं कर सकते, तेरे परम प्रकाश को नहीं पा सकते। यह जो उत्पन्न संसार चल रहा है, ऐसे ऐसे हज़ारों, बल्कि अनन्तों संसार, एक के बाद एक उत्पन्न हो हो कर समाप्त होते जांयगे, परन्तु वे तेरी आयु को अनन्त काल में भी नहीं नाप सकेंगे। और यह रोदसी, यह द्यावापृथिवी, यह ज़मीन और आस्मान, यह ब्रह्माण्ड और ऐसे ऐसे हज़ारों लाखों ब्रह्माण्ड भी तेरी विशालता की, तेरी गंभीरता की कभी थाह नहीं लगा सकेंगे। तो हे इन्द्र ! हम भला क्षुद्रातिक्षुद्र जीव तुझे अपने तुच्छ ज्ञान से कहां व्याप्त कर सकते हैं ? तेरी कल्पना करने में ही हमारी तो सब विचारशक्ति कुंठित हो जाती है, हमारी बुद्धि चुप हो जाती है। हम इतना ही कह सकते हैं "तुम अनन्त हो, तुम अनन्त हो, हे प्रभो ! तुम असीम हो, तुम असीम हो, तुम कल्पना के भी अगोचर हो, अगोचर हो।"

शब्दार्थ—

(इन्द्र) परमेश्वर ! (यत्) यदि (ते) तेरे (शतं) सौ (द्यावः) द्युलोक हों (उत) और यदि (शतं) सौ (भूमीः) भूमियां (स्युः) हों [तो भी वे तेरा प्रतिमान नहीं कर सकते] (वज्रिन्) हे अनन्त सामर्थ्य ! (सहस्रं) हज़ारों,अनन्तों (सूर्याः) सूर्य (त्वा) तुझे (न) नहीं व्याप्त कर सकते और (जातं) यह उत्पन्न हुवा संसार तथा (रोदसी) ये विशाल द्यावा पृथिवी, ये ज़मीन आस्मान सहस्रों होकर भी (न अनु अष्ट) तुझे नहीं व्याप्त कर सकते , तेरी अनन्तता को नहीं पहुँच सकते।

*

* *

४ माघ

न पापासो मनामहे नारायासो न जल्हवः ।
यदिन्नु इन्द्रं वृषणं सचा सुते सखायं कृणवामहै ॥

ऋ० ८.६१.११॥

विनय

देखो, हमने 'वृषण' इन्द्र को अपना सखा बना लिया है, बलवान् सर्व शक्तिमान् इन्द्र को, सब कामनाओं के बरसाने वाले इन्द्र को अपना सखा बना लिया है । हमने उसे अपना ऐसा सखा बना लिया है कि अपने हरिकीर्त्तनों में, अपने सम्मिलित ध्यानों में, अपने यज्ञ कर्मों में, अपने सोमाभिषव के सब अवसरों में हम इकट्ठे होकर तन्मग्न होकर सदा उस की मित्रता का अनुभव करते हैं । क्या तुम पूछते हो कि हमने उससे ऐसा सख्य कैसे प्राप्त कर लिया है ? इसका कारण यह है कि हम कभी पापी होकर उसको नहीं मनाते हैं, उसकी नहीं उपासना करते हैं । अपने को परमेश्वर का मानने वाला कहना और साथ ही पाप करना, ब्रह्मचर्य आदि नियमों का भंग करना यह कितनी लाञ्छनीय बात है ! हम तो निष्पाप होकर ही परमेश्वर की उपासना करते हैं । और फिर कभी हम दानहीन होकर भी परमेश्वर का भजन नहीं करते । अनुदार होना या आत्मत्याग से डरना और परमेश्वर

की राह चलना, ये बिलकुल उलटी बातें हैं। अतः हम तो सर्वस्व त्यागते हुवे अपने को भी समर्पण करते हुवे ही प्रभु का भजन करते हैं। इसी तरह ज्वलन-रहित होकर भी हम कभी इन्द्र का आराधन नहीं करते। जो अग्न्याधान नहीं करता, जो अपने को प्रज्वलित नहीं करता उसकी स्तुति प्रार्थनायें निष्फल होती हैं, वे इन्द्र तक नहीं पहुँचती, वे उसे परमेश्वर से जोड़ने वाली नहीं होतीं। इसलिये हम अग्निचर्या करते हुवे अपने को संप्रदीप्त करके ही इन्द्र के आराधन में बैठते हैं। ये ही तीन कारण हैं जिन से हमने इन्द्र के हृदय को हर लिया है। ओह! वे इन्द्र तो हम सब मनुष्यों को इकट्ठा अपना मित्र बना सकते हैं और बनाने को उद्यत हैं, और उन जैसा सर्वशक्तिमान् सब कामनाओं का पूरक मित्र और कौन हो सकता है; पर यह तभी है, यदि हम पापी न होकर, अदानी न होकर और अनग्नि न होकर उनके पास पहुँचे, यदि हम निष्पाप उदार और प्रज्वलित होकर अपनी मित्रता का हाथ आगे बढ़ावें, यदि हम इन तीन गुणों को धारण करके उनके सख्य के पात्र हो जावें।

शब्दार्थ—

हम (न) न तो (पापासः) पापी होकर, (न) न (अरायासः) अदानी होकर (न) और न (जल्हवः) अप्रज्वलित होकर (मनामहे) इन्द्र को मानते हैं, उसकी उपासना करते हैं। (यत् इत्) जिस कारण से ही हम (नु) अब (वृषणं) बलवान्, कामों के वर्षक (इन्द्रं) परमेश्वर को (सुते) अपने यज्ञ कर्मों में (सचा) संमिलित होकर, तन्मय होकर (सखायं कृणवामहे) सखा कर लेते हैं, मित्र बना लेते हैं।

अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तु रन्यव्रतो अमानुषः ।
त्वं तस्यामित्रहन् वधो दासस्य दम्भय ॥

ऋ० १०.२२.८॥

विनय

हे परमेश्वर ! तेरा अमित्र, तेरा शत्रु कौन हो सकता है ? और तेरा शत्रु होकर कोई इस तेरे संसार में कैसे रह सकता है ? नहीं, मनुष्य तो इतना गिरता है कि वह तेरा शत्रु भी बनता है । वह तेरा शत्रु तब होता है जब वह तेरे संसार से शत्रुता करता है, जब वह संसार का उपक्षय करने वाला 'दस्यु' बनता है । 'दस्यु' वह मनुष्य होता है जो अकर्मा होता है, जो कर्महीन होता है, जो बिना कर्म किये जीना चाहता है, बिना श्रम किये खाना चाहता है, बिना यज्ञ किये भोगना चाहता है । ऐसा मनुष्य अपने इस अकर्म द्वारा जगत् का उपक्षय करता है, इसीलिये वह 'दस्यु' व 'दास' कहलाता है । ऐसा दस्यु 'अमन्तु' अमननशील होता है । यदि वह मनन

करने लगे तब तो वह कभी अकर्मा, व दस्यु न रहे। पर वह तो अन्यव्रत होता है, कुछ अन्य ही प्रकार के उलटे व्रत लिये होता है। वह मनन क्यों करेगा? वह तो अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि सच्चे व्रतों से उलटा हिंसा, असत्य, स्तेय आदि के कर्मों को निःशंक होकर करता है। अतएव वह 'अमानुष' मनुष्यता से गिरा हुवा, नामधारी मनुष्य ही होता है। ऐसा मनुष्यत्वहीन मनुष्य तुझ से अमित्रता न करेगा तो और क्या करेगा? जब ऐसा दस्यु हमारे अभिमुख होता है, हम पर हमला करता है तो हे अमित्रहन्! ऐसे दास के लिये, इस प्रकार जगत् के उपक्षय करने वाले के लिये तू वधरूप हो जाता है, सहज स्वभाव से मृत्युरूप हो जाता है। हे इन्द्र! तू सदा ही ऐसे दस्युओं का दंभन करता रह, विनाश करता रह और इस प्रकार से संसार का रक्षण करता रह, पालन करता रह।

शब्दार्थ—

हे इन्द्र! (अकर्मा) कर्महीन मनुष्य (दस्युः) दस्यु, उपक्षय करने वाला होता है, यह (नः) हमारे (अभि) अभिमुख होता है, हमला करता है, (अमन्तुः) यह मनन न करने वाला (अन्यव्रतः) अन्य उलटे व्रत व कर्म वाला (अमानुषः) और मनुष्यता से गिरा हुआ होता है। (अमित्रहन्) हे शत्रुनाशक! (तस्य) उस (दासस्य) दस्यु का (त्वं) तू (वधः) वध, मृत्यु होता है, (दंभय) तू उसका नाश कर।

❀

❀ ❀

अस्मे ता त इन्द्र सन्तु सत्याऽहिंसन्तीरुपस्पृशः ।
विद्याम यासां भुजो धेनूनां न वज्रिवः ॥

ऋ० १०.२२.१३॥

विनय

हे प्रभो ! हम तुम से शुभ ही प्रार्थनायें कर रहे हैं । हम तुम से जो प्रार्थनायें कर रहे हैं वे सर्वथा हिंसा रहित हैं, वे किसी का अनिष्ट चाहने वाली नहीं हैं, वे सदा सब के सब प्रकार से भले की ही कामना करने वाली हैं और ये प्रार्थनायें हमारे सच्चे दिल से निकली हैं, निर्मल अन्तःकरण से निकली हैं अतः ये अवश्य तुम्हें समीपता से स्पर्श करने वाली हैं, तुम्हारे हृदय तक पहुँचने वाली हैं । हे परमेश्वर ! हमारी ऐसी प्रार्थनाओं को तुम अवश्य सत्य करो, क्रियान्वित करो, सफल करो । जैसे दूध देने वाली 'धेनु' से

गोस्वामी दूध आदि नाना भोगों को प्राप्त करता है, उस तरह हमारी ये प्रार्थनायें धेनु होकर हमें भोगों से, अभीष्ट फलों से परिपूरित कर देवें। अपनी इन प्रार्थनाओं से हम जो जो क्रिया व फल रूप भोग चाह रहे हैं उन्हें हम अवश्य प्राप्त कर लेवें। हे वज्रवाले! हे शक्तिमय! तुम से की गयीं और तुम से हिंसाहीन तथा हृदयस्पर्शी रूप से की गयीं ये हमारी प्रार्थनायें कैसे निष्फल हो सकती हैं, कैसे असत्य व अपूर्ण रह सकती हैं?

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे परमेश्वर! **(ते)** तेरे प्रति की गयी **(ताः)** वे **(अहिंसन्तीः)** हिंसारहित, सब का भला चाहने वाली **(उपस्पृशः)** तुझे समीपता से स्पर्श करने वाली प्रार्थनायें **(अस्मे)** हमारे लिये **(सत्या)** सत्य **(सन्तु)** हो जावें; ऐसी हो जावें कि **(यासां)** जिन प्रार्थनाओं के **(भुजः)** भोगों को, फलों को **(वज्रिवः)** हे वज्र वाले! हम **(धेनूनां न)** दुहने वाली गौओं के [भोगों की] तरह **(विद्याम)** प्राप्त करें।

❀

❀ ❀

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा ।
त्वं यज्ञेषु ईड्यः ॥

ऋ० ८.११.१॥ य० ४.१६॥ अथ० १९.५९.१॥

विनय

हे अग्ने ! तू व्रतों का पालन करनेवाला है, पूरी तरह सब सत्य नियमों का स्वभावतः पालन करनेवाला है । तू ऐसा पूरा व्रतपालक है इसीलिये तू देव है, पूरा देव है । और ऐसा देव होकर तू हम मर्त्य मनुष्यों में आया हुवा है, समाया हुवा है । तू पूर्ण व्रतपालक होकर हम मनुष्यों के अन्दर आकर बैठा हुवा है । हे आत्मन् ! इस तरह तुझे अपने में पाकर भी यदि हम व्रतपालक न बन सकें तो हम कितने अभागे हैं । तू तो हममें इसीलिये आया हुवा है कि हम भी

तुझ द्वारा व्रतपालक होजावें, हम भी तेरे व्रतपालन के स्वभाव को अपने में पूरी तरह प्रतिबिम्बित कर लेवें। और जो तू सब यज्ञों में हमारा ईड्य हो रहा है, हमारे सब शरीरों में हमारे सब स्वरूपों में अग्निदेव होकर हमारा पूजनीय हो रहा है वह भी इसीलिये है कि हम तेरा यजन कर करके व्रतपालक बन जावें, तुझे योग्य हवि प्रदान कर करके 'व्रतपाः' अवस्था को पाजावें। हे अग्ने! आज हम तेरे 'व्रतपाः' स्वरूप को साक्षात् अनुभव कर रहे हैं और चाह रहे हैं कि हम भी इसी तरह अपने अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य आदि व्रतों के पूरे पालन करने वाले हो जावें। इसलिये, हे हमारे अग्ने! तू हमें भी 'व्रतपा' बना, अपने जैसा पूरा और दृढ़ व्रत-पालक बना।

शब्दार्थ—

(अग्ने) आत्मन्! (त्वं) तू (व्रतपाः) व्रत पालक (असि) है, (देवः) तू देव है (आ) और (मर्त्येषु) हम मनुष्यों में (आ) समन्तात् है, समाया हुत्रा है। (त्वं) तू (यज्ञेषु) यज्ञों में (ईड्यः) पूजनीय है।

* *
*

८ माघ

न देवानामति व्रतं शतात्मा चन जीवति ।
तथा युजा विववृते ।

ऋ० १०.३३.९॥

विनय

मनुष्यो ! देखो, देव लोग अपने व्रतपालन में बड़े कठोर हैं । इन देवों के नियम अटल हैं । ये किसी के लिये टल नहीं सकते । इन ईश्वरीय नियमों को तोड़ने का यत्न करना बड़ी मूर्खता है । इन्हें तोड़ने का यत्न करनेवाला टूट जायगा, पर ये नियम न तोड़े जा सकेंगे । इनका अतिक्रमण करके, इनका उल्लंघन करके 'शतात्मा' पुरुष भी नहीं बच सकता, सौ मनुष्यों की शक्ति रखनेवाला, शतगुणा वीर्य रखनेवाला मनुष्य भी जीवित नहीं रह सकता । और उसे उस समय अपने बड़े से बड़े साथी से भी बलात् वियुक्त हो जाना पड़ता है । दैव नियमों का भंग करने पर हमारे सब सम्बन्ध विच्छिन्न हो

जाते हैं, हमारे सब जोड़ टूट जाते हैं। उस समय हमारी सहायता करना चाहता हुवा भी हमारा बलवान् से बलवान् जोड़ीदार, हमारा समर्थ से समर्थ साथी, हमारी सहायता नहीं कर सकता। उसके देखते देखते हमें नियमभंग का कठोर दंड भोगना पड़ता है। वह भी हमें बचा नहीं सकता। इसलिये हे भाइओ! हमें कभी मद में आकर, अपने किसी भी प्रकार के बल के घमंड में आकर, कभी भूल कर भी देवों के व्रतों का अतिक्रमण नहीं करना चाहिये, देवों के नियमों को उल्लंघन नहीं करना चाहिये।

शब्दार्थ—

(देवानां) देवों के (व्रतं) अटल नियम को (अति) अतिक्रमण करके (शतात्मा) सौ मनुष्यों की शक्ति रखनेवाला, शतगुण वीर्यवाला पुरुष (चन) भी (न) नहीं (जीवति) जीता, बचता। (तथा) और वैसे ही, वह (युजा) अपने साथी से, साथी की सहायता से (विववृते) वियुक्त हो जाता है।

❀

❀ ❀

नहि नु ते महिमनः समस्य न मघवन् मघवत्त्वस्य विद्मः ।
न राधसो राधसो नूतनस्य, इन्द्र न कि र्ददृशे इन्द्रियं ते ॥

ऋ० ६.२७.३॥

विनय

हे परमेश्वर ! हम तेरी महिमा को कहां जान सकते हैं ? तू महान् है, तू ज्ञान में कर्म में शक्ति में परिमाण में सब गुणों में अति महान् है, बहुत बहुत बड़ा है; यह हम प्रायः सदा ही अनुभव करते हैं और अपने इस अनुभव को मनुष्य साथिओं में नाना तरह से बखान भी करते रहते हैं। परन्तु हे प्रभो ! हम तेरी सम्पूर्ण महिमा को कैसे समझ सकते हैं ? हे मघवन् ! हम तेरे मघवत्त्व को भी कहां जान सकते हैं ? हे ऐश्वर्य वाले ! हम तेरे ऐश्वर्यवत्त्व की, तेरे ऐश्वर्यों की थाह भी कहां पा सकते हैं ? संसार के कुछ ऐश्वर्यों को देखकर हम कल्पना करते हैं कि ऐसे ही कोई बड़े बड़े दिव्य ऐश्वर्य भी होंगे, और कल्पना करते हैं कि इसी तरह सब स्थानों में सब ब्रह्माण्डों में जो तेरे ऐश्वर्य बरस रहे हैं तथा सब कालों में, अनादि भूत और अनन्त भविष्यत् में, जो तेरे ऐश्वर्य फैले पड़े हैं—वे कितने अनन्त हैं, वे कितने अद्भुत हैं ? इसी

प्रकार तेरे राधसों का, तेरी सिद्धिओं का, तेरे सफलता दिलाने वाले सामर्थ्यों का, तेरे इन साधक ऐश्वर्यों का अन्त भी हम मनुष्य कहां पा सकते हैं ? हम सोचते हैं तेरे 'राधस्' ऐसे हैं, तू इस इस प्रकार से सिद्धि प्राप्त कराता है, परन्तु तू तो अपने कभी समाप्त न होने वाले एक से एक अद्भुत नये से नये राधसों को, साधक सामर्थ्यों को, निकालता ही चला जाता है और दुनियां को आश्चर्यचकित करता रहता है। सचमुच, हे इन्द्र ! हम तेरे इन्द्रिय को, तेरे इन्द्रपन को नहीं पा सकते, नहीं समझ सकते। तेरी इन्द्रियशक्ति गभीर है, बड़ी गभीर है। हम जैसे अपनी इन्द्रियों से काम करते हैं, वैसे तेरी कोई इन्द्रिय दृष्टि गोचर नहीं होती, तो भी तू न जाने कैसे इन सब ब्रह्माण्डों को हिला रहा है, प्रत्येक वस्तु में अन्तर्यामी हुवा हुवा किस अद्भुतता से उसे ठीक ठीक चला रहा है । ओह ! इन्द्र ! तेरी शक्ति असीम है, तेरा राधस् अगाध है, तेरा ऐश्वर्य अनन्त है, तेरी महिमा अपार है ।

शब्दार्थ-

(ते) तेरी (समस्य) समस्त (महिमनः) महिमा को (नु) निःसंदेह (नहि) हम नहीं (विद्मः) जान सकते, (मघवन्) हे ऐश्वर्य वाले ! (मघवत्त्वस्य) तेरी ऐश्वर्यमयता को भी (न) हम नहीं समझ सकते । और तेरे (नूतनस्य) नये से नये (राधसो राधसः) एक एक राधस् को, साधक ऐश्वर्य को (न) हम नहीं जान सकते तथा (इन्द्र) हे इन्द्र ! (ते) तेरी (इन्द्रियं) इन्द्र शक्ति, तेरा इन्द्रपना (न किः) नहीं (ददृशे) देखा जा सकता है।

* *

*

स नः पप्रिः पारयाति स्वस्ति नावा पुरुहूतः ।
इन्द्रो विश्वा अति द्विषः ।।

ऋ० ८.१६.११।।

विनय

वे 'पप्रि' परमेश्वर और वे 'पुरुहूत' परमेश्वर हमें भी पार लगावें। हम उन प्रभु का स्मरण कर रहे हैं जो पूरण करने वाले हैं, कमिओं को भरपूर कर देने वाले हैं; और उन प्रभु को पुकार रहे हैं जिन्हें सन्त लोग सदा पुकारते रहे हैं और जिन्हें सभी लोग समय समय पर पुकारते रहते हैं। वे ही प्रभु हमें इस द्वेष सागर से पार लगावें। हमने बहुत द्वेष किया है और बहुत द्वेष पाया है। बहुतों से शत्रुता की है और बहुतों को शत्रु बनाया

है। हमें इस समय सब जगह अपने द्वेषी ही द्वेषी नजर आते हैं, सब जगह अपने शत्रु ही शत्रु दिखाई देते हैं। हम इनसे कैसे पार उतरें ? यह और कुछ नहीं है, हमारे ही अन्दर की द्वेषभावना दुस्तर समुद्र बन कर हमारे सामने आ गयी है। जब से हमें यह ज्ञान हुवा है तब से हम उन 'पप्रि' प्रभु की ही याद में रहने लगे हैं। हम जान गये हैं कि यदि वे पूरण करने वाले हमें अपनी शरण रूपी नौका प्रदान कर देंगे तो हम कुशल क्षेम से इस भयंकर द्वेषसागर को तर जायँगे। हम जान गये हैं कि यदि हमारे हृदय की क्षुद्रताओं के गढ़े भरपूर हो जायँगे और हमारा हृदय विशाल तथा प्रभु प्रेम से परिपूर्ण हो जायगा, तो हमारे अन्दर द्वेष की वासना भी नहीं ठहर सकेगी। इसलिये अब हम उस पूरण करने वाले प्रभु को ही पुकार रहे हैं, बार बार पुकार रहे हैं। ओह ! अब तो वे ही पुरुहूत 'पप्रि' परमेश्वर हमें इस द्वेष-सागर से पार लगावें, इस दुस्तर सागर से पार उतारें।

शब्दार्थ—

(सः) वह (पप्रिः) पूरण करने वाले (पुरुहूतः) बहुतों से पुकारे गये (इन्द्रः) परमेश्वर (नावा) नौका द्वारा, अपनी शरण रूपी तरणसाधन द्वारा (नः) हमें (स्वस्ति) कुशलता पूर्वक (विश्वा द्विषः अति) सब द्वेषों से लंघा कर (पारयाति) पार लगावे ।।

*

* *

स नः शक्रश्चिदाशकद् दानवाँ अन्तराभरः ।
इन्द्रो विश्वाभिरूतिभिः ॥

ऋ. ८.३२.१२॥

विनय

वे शक्र परमेश्वर हमें भी शक्तिसंयुक्त करें । हम अशक्त, पग पग पर गिरनेवाले हम असमर्थ, शक्ति याचना के लिये और कहाँ जावें ? सिवाय उन सर्व शक्तिमान् इन्द्र के शक्ति प्राप्ति की आशा हम और कहां से लगावें ? ओह ! वे शक्र तो 'दानवान्' हैं और 'अन्तराभर' हैं । उन परिपूर्ण परमेश्वर ने कभी किसी से कुछ लेना नहीं है, उन्होंने तो सदा सब को देना ही देना है । ऐसे दानवान् होकर वे हमारे अन्तरों को, हमारे छिद्रों और कमिओं को भरनेवाले हैं, हमारे अन्तस्तल को (उसके दोषों और त्रुटियों को) पूरनेवाले हैं। वे अन्दर से भरनेवाले हैं, अन्दर से हमारे आन्तर स्थल को भरपूर कर देनेवाले हैं। वे इन्द्र यदि चाहें तो हमें अपनी सब ऊतिओं

से, सब रक्षाओं से, सब पालनाओं से, तृप्तिओं से हमारी सब कमियां दूर कर सकते हैं और हमें अन्दर से भरकर शक्त बना सकते हैं। हम उन्नति पथ पर चढ़ते हुवे पग पग पर अपनी अशक्ति अनुभव कर रहे हैं। इस तरह अपनी घोर अशक्ति, भारी निर्बलता को अनुभव करते हुवे ही हम आज शक्ति के भिखारी हुवे हैं। और जब से हमें ज्ञान मिला है कि हमें शक्ति अन्दर से ही मिलेगी तथा हमारे आन्तर को भर सकने वाले वे शक्र प्रभु ही हैं, तब से हम उन शक्र के द्वारे आ बैठे हैं। हम आज साक्षात् देख रहे हैं कि उन शक्र के सिवाय इस संसार में और कोई शक्ति देनेवाला नहीं है, उनके सिवाय इस संसार में और कोई हमारे आन्तर को भरने वाला नहीं है। ओह! अब तो वे सर्वशक्तिमान् शक्र ही हमें शक्ति से युक्त कर देवें, वे सर्व समर्थ इन्द्र ही हमें सामर्थ्य प्रदान कर देवें।

शब्दार्थ—

(सः) वह (शक्रः) शक्तिमान् (नः) हमें (चित्) भी (आ अशकत्) शक्तियुक्त करे, समर्थ करे। क्योंकि वह (दानवान्) दान देनेवाला (अन्तराभरः) अन्दर के अन्तस्तल को भरनेवाला, अन्दर के अन्तर (छिद्र, कमी) को भरनेवाला है। (इन्द्रः) वह परमेश्वर अपनी (विश्वाभिः) सब (ऊतिभिः) रक्षाओं आदि से [हमें शक्ति युक्त करे, समर्थ करे]।

❀

❀ ❀

त्वं ह्यग्ने अग्निना विप्रो विप्रेण सन् सता।
सखा सख्या समिध्यसे ॥

ऋ० ८.४३.१४॥

विनय

हे अग्ने ! तू निःसंदेह अग्नि द्वारा ही प्रदीप्त किया जाता है। जैसे इस संसार में आग से आग जलायी जाती है, जैसे एक ज्ञानी विप्र द्वारा दूसरा मनुष्य भी ज्ञान संपन्न हो जाता है, विप्र आचार्य द्वारा ब्रह्मचारी ज्ञान से समिद्ध हो जाता है, जैसे एक श्रेष्ठ सात्विक पुरुष से दूसरे में भी सात्विक भाव जग जाते हैं, साधु के सत्संग से दूसरा भी साधु हो जाता है, और जैसे सच्चे मित्र द्वारा दूसरे में भी मैत्री भाव पैदा हो जाता है, सच्चे प्रेम द्वारा दूसरे में भी प्रेम उपज जाता है वैसे ही हे अग्ने ! हे मेरे परम आत्माग्ने ! मैं जान गया हूँ

कि तू आत्माग्नि द्वारा ही प्रदीप्त हो सकता है, मुझ अग्नि द्वारा ही प्रदीप्त हो सकता है। मैं अग्नि बन कर अपनी आत्मा को तेजस्वी करके ही तुझे अपने में प्रदीप्त कर सकूँगा। मैं ज्ञानी विप्र बन कर, सच्चा ब्राह्मण बन कर ही तुझ ज्ञानमय ब्रह्म को अपने में प्रकाशित कर सकूँगा। मैं श्रेष्ठ सज्जन सात्विक पुरुष होकर अपनी सज्जनता द्वारा, अपने सात्विक भावों द्वारा ही तुझ 'सत्' को प्राप्त कर सकूँगा। और मैं अपने सख्य-भाव द्वारा, अपने प्रेममय भक्तिभाव द्वारा ही तुझ सच्चे सखा को अपना सखा बना सकूँगा। ओ, अग्ने! मैं तुझे समिद्ध करूँगा, अवश्य समिद्ध करूँगा। मैं तुझे अग्नि द्वारा ही समिद्ध करूँगा। मैं ज्ञान की अग्नि, श्रेष्ठता की अग्नि और प्रेम की अग्नि बन कर तुझे अपने में समिद्ध करूँगा।

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे अग्ने! (त्वं) तू (हि) निःसंदेह (अग्निना) अग्नि द्वारा (समिध्यसे) प्रदीप्त किया जाता है। (विप्रः) तू विप्र परम ज्ञानी (विप्रेण) मुझ ज्ञानी द्वारा, (सन्) तू सत्, श्रेष्ठ (सता) मुझ साधु श्रेष्ठ द्वारा और (सखा) तू सच्चा सखा (सख्या) मुझ सखा द्वारा प्रदीप्त किया जाता है प्रकाशित किया जाता है।

*

* *

१३ माघ

ते घेदग्ने स्वाध्यो अहा विश्वा नृचक्षसः ।
तरन्तः स्याम दुर्गहा ॥

ऋ० ८.४३.३०॥

विनय

हे प्रभो ! हम तेरे लिये ही कर्म करने वाले होवें । हम सदा, सब काल, आठों पहर, दिन और रात जो कुछ करें वह सब तेरे लिये ही करें और सब सुकर्म ही करें। अहा, अपने छोटे से छोटे और बड़े से बड़े कर्म को तुझे समर्पित करते जाना, अपने एक एक कर्म से आठों पहरों में निरन्तर तेरा ही पूजन करते जाना, यह कितना सात्विक जीवन है, कितना शान्त और सुखमय जीवन है ? जब हम श्वसन तक के अपने प्रत्येक कर्म को इसी तरह तेरे ही लिये पवित्र भाव से करने लगते हैं तब हमारा ज्ञान भी पवित्र और विशुद्ध हो

जाता है। तब हम प्रत्येक वस्तु को निर्लेप होकर उसके विशुद्ध स्वरूप में देखने लगते हैं। तब हम सब मनुष्यों को और सब बातों को उनके ठीक ठीक रूप में देखने और पहिचानने लगते हैं। 'नृचक्षस्' हो जाते हैं। और इस तरह उत्तम कृति और विशुद्ध दृष्टि वाले होकर, हे परमात्मन्! हम सब दुर्गहों को आसानी से तरते चले जाते हैं! ओह, सचमुच निलप होकर काम करने वाले 'नृचक्षस्' पुरुषों के लिये इस संसार में कठिन से कठिन प्रसंग 'सुतर' हो जाते हैं, उनके लिये भयंकर से भयंकर दीखने वाली आपत्तियां कुछ भी भयंकरता नहीं रखतीं। हम भी इसी तरह, हे अग्ने! तेरी कृपा से सब दुर्गाहनीय अवसरों को आसानी से तरते जावें, 'स्वाध्यः' और 'नृचक्षस्' होकर आसानी से तरते जावें।

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे परमात्मन्! हम (विश्वा अहा) सब दिन, सदा (घ) निश्चय से (ते इत्) तेरे ही लिये (स्वाध्यः) उत्तम कर्म करने वाले होवें, (नृचक्षसः) मनुष्यों को ठीक पहिचानने वाले होवें और इस तरह (दुर्गहा) दुर्गाहनीय प्रसंगों को (तरन्तः) तरते जाने वाले (स्याम) होवें।

❀

❀ ❀

अग्निं मन्द्रं पुरुप्रियं शीरं पावकशोचिषम् ।
हृद्भिः मन्द्रेभिः ईमहे ॥

ऋ० ८.४३.३१॥

विनय

यह अग्निदेव मन्द्र है, हर्षित कर देनेवाला है, आनन्द रूप है। यह ऐसा मन्द्र है, ऐसा मस्त कर देनेवाला है कि इसके दर्शनमात्र से, इसके स्मरण मात्र से हममें आनन्द की लहरें चल उठती हैं। इसीलिये यह अग्नि बहुत प्यारा है। सब तरह से प्यारा है, और असल में सब का प्यारा है। परन्तु यह अग्नि हममें सोया पड़ा है। यह पवित्रदीप्ति अग्नि हममें सोया पड़ा है। इसकी शोचि, इसकी ज्योति इतनी पवित्रताकारक है कि यदि यह हममें जग जावे तो हमें नख से शिख तक पवित्र कर देवे, हमारी नस नस को, हमारे रोम रोम को पवित्र कर देवे, बल्कि हमारे प्राण और मनके एक एक परमाणु को पवित्र कर देवे। पर हा! यह हम में जग

नहीं रहा है, सोया हुवा है। इसे कौन जगावे ? इसे कैसे जगावें ? ओह, यह मन्द्र अग्नि मन्द्रों द्वारा ही जगाया जा सकता है, मन्द्र हृदयों द्वारा ही जगाया जा सकता है। इसे जगाने के लिये हृदय चाहियें, और मन्द्र हृदय चाहियें। आओ, भाइओ ! हम अपने मन्द्र हृदयों द्वारा इस मन्द्र परमात्मा को अपने में प्राप्त कर लेवें, प्रबुद्ध कर लेवें। ये देखो, भक्त लोग अपने उन भक्ति भाव भरे हृदयों द्वारा जो प्रभु वाणी सुनकर मोर की तरह आनन्द मस्ती में नाच उठते हैं, अपने हृदय के उन कोमल मनोभावों द्वारा जो हरिनाम का स्मरण हो आते ही हमें रोमांचित और पुलकित कर देते हैं और अपने अन्तःकरण के उन मनोवेगों द्वारा जो प्रभु का हार्दिक अनुभव करके हमें आनन्दाश्रुओं में रुला देते हैं, अपने मन्द्र प्रभु को नाना तरह से जगा रहे हैं, नाना तरह से रिझा रहे हैं। आओ, हम भी क्यों न इसी तरह इस मन्द्र अग्नि को अपने में जगावें और अपने मन्द्र हृदयों द्वारा इसे प्रतिदिन रिझावें ?

शब्दार्थ—

(**पुरुप्रियं**) बहुत प्यारे और (**पावकशोचिषं**) पवित्र ज्योति वाले (**शीरं**) किन्तु सोये पड़े हुवे (**मन्द्रं**) मस्ती देनेवाले, हर्षित करने वाले, आनन्दरूप (**अग्निं**) परमात्मा को हम (**मन्द्रैः**) मादन, हर्षित होनेवाले ही (**हृद्भिः**) हृदयों से (**ईमहे**) चाह रहे हैं, प्राप्त करना चाह रहे हैं।

*

*

यो अग्निं तन्वो दमे देवं मर्त्तः सपर्यति ।
तस्मा इदीदयद् वसु ॥

ऋ० ८.४४.१५॥

विनय

हे मनुष्यो ! वसु देनेवाले जिस अग्नि को तुम ढूंढते हो वह कहीं बाहर नहीं है । वह तो हमारे अन्दर है, हमारे शरीर में ही विद्यमान है । वह अग्नि हमारे शरीर के घर में, हमारे शरीर रूपी यज्ञशाला में नाना प्रकार से जल रहा है, प्रदीप्त हो रहा है । जो मनुष्य इस शरीर-गृह में जलने वाले देव अग्नि का ठीक प्रकार पूजन करता है उसे ही वसु, अभीष्ट फल मिलता है । ये देखो, जाठराग्नि से लेकर आत्माग्नि व परम आत्माग्नि तक, पार्थिव अग्नि से लेकर परम दिव्य अग्नि तक सब स्वरूपों में अग्नि देव हमारे शरीर रूपी यज्ञगृह में ही जल रहा है । यदि हम नियमित भोजन शयन और व्यायाम आदि द्वारा जाठर अग्नि का ठीक प्रकार परिचरण करेंगे तो

हमें शारीरिक वसु मिलेगा। यदि हम प्राणायामादि से प्राणाग्नि का सेवन करेंगे तो हमें प्राणबल प्राप्त होगा। सूक्ष्म प्राणाग्नि में व इन्द्रियाग्नि में हवन करने से हमें इच्छा-संयम का व शब्दादि विषयों का वसु प्राप्त होगा। चित्ताग्नि की ठीक परिचर्या से हमें वासनाशुद्धि प्राप्त होगी। मनरूपी अग्नि का विधिवत् यजन करने से हमें बहुमूल्य विचारों का निधि (ख़ज़ाना) प्राप्त हो जायगा। और बुद्धि अग्नि के पूजन से ज्ञान का दिव्य ऐश्वर्य भी हस्तगत हो जायगा। इसी तरह आत्मसयम-योगाग्नि में सब प्रकार के कर्मों का हवन करने से तथा आत्माग्नि व ब्रह्माग्नि में नाना प्रकार के उच्च यज्ञ करने से हमें वे सब ऊँचे से ऊँचे अध्यात्म ऐश्वर्य प्राप्त हो जांयगे, जिन के लिये देव भी तरसते हैं। इसलिये, हे मनुष्यो! आओ, हम अपने शरीर के दम में, दमन करने में ही, उस सच्चे अग्नि को ढूँढ लेवें जिसकी ही ज्वालायें हमारे काय, प्राण, मन आदि में जल रही हैं। उसी के हवन से हमें वसु मिल सकता है, केवल उसी के यजन से हमें सब ऐश्वर्य मिल सकता है।

शब्दार्थ—

(यः) जो (मर्त्तः) मनुष्य (तन्वः) शरीर के (दमे) गृह में या दमन में (देवं) देव (अग्निं) अग्नि को (सपर्यति) सेवन करता है, यजन करता है (तस्मै) उसके (इत्) ही लिये [वह अग्नि देव] (वसु) ऐश्वर्य को (दीदयत्) देता है

*

* *

१६ माघ

त्वामग्ने मनीषिणः त्वां हिन्वन्ति चित्तिभिः ।
त्वां वर्धन्तु नो गिरः ॥

ऋ० ८.४४.१९॥

विनय

हे अग्ने ! तुम्हारा असली प्रीणन करने वाले, तुम्हें अच्छी तरह बढ़ाने वाले तो वे पुरुष होते हैं जो मनीषी हैं, जो मन के ईश्वर हैं, जो अपने मन के पूरे मालिक हैं। मन के गुलाम तो इस संसार में प्रायः सभी लोग होते हैं, पर विरले ही हैं जो मन के स्वामी होते हैं, जो अपने मन को पूरी तरह अपने काबू में रखते हैं। ऐसे मनीषी लोग इस मन के संयम के लिये जो सतत आत्मबलिदान करते हैं, उन आहुतिओं से हे अग्ने ! तुम खूब संतृप्त होते हो, खूब प्रदीप्त होते हो। दूसरे हैं जो चित्तिओं से, चित्त-कर्मों से तुम्हारा संतर्पण करते हैं। ये चित्त शुद्धि द्वारा, और चित्त शुद्धि कराने वाले निष्काम कर्मों द्वारा, तुम्हें बढ़ाते हैं। इस चित्त-

शुद्धि और निष्कामता के लिये जो इन्हें आत्मत्याग करना पड़ता है उन आहुतिओं से भी, हे अग्ने ! तुम खूब संतृप्त होते हो, खूब प्रदीप्त होते हो। यद्यपि तुम्हारा असली प्रचार, तुम्हारी महिमा का विस्तार ये मनीषी और चित्ति वाले लोग ही करते हैं तो भी हमारी वाणिओं द्वारा भी—हमारे मंत्रपाठों, स्तुति-गीतों और कथा चर्चाओं द्वारा भी—कुछ न कुछ अवश्य तुम्हारी महिमा बढ़ती है, तुम्हारा प्रचार होता है। नहीं, यदि ये हमारे पाठ, स्तोत्र वैखरी वाणी से ही नहीं किन्तु अन्दर की वाणिओं से भी निकले होते हैं तब तो इन से भी तुम्हारी महिमा पूरी पूरी ही बढ़ती है, तुम्हारा सच्चा प्रचार होता है। इसलिये हे अग्ने ! हमारे आत्माग्ने ! तुम हमारी इन वाणिओं द्वारा भी बढ़ो; जहां तुम मनीषिओं और शुद्ध चित्त पुरुषों के मनों और चित्तों द्वारा बढ़ते हो, वहां तुम हमारी इन वाणिओं द्वारा भी बढ़ो, प्रदीप्त होओ।

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे अग्ने ! (त्वां) तुझे (मनीषिणः) मन के ईश्वर लोग (हिन्वन्ति) प्रीणित करते हैं, बढ़ाते हैं और (त्वां) तुझे [दूसरे लोग] (चित्तिभिः) चिन्तनों से या चित्तशुद्धि के कर्मों से बढ़ाते हैं। तथा (नः) हमारी (गिरः) ये वाणियां भी (त्वां) तुझे (वर्धन्तु) बढ़ावें।

*

* *

१७ माघ

अग्निः शुचिव्रततमः शुचिर्विप्रः शुचिः कविः ।
शुची रोचत आहुतः ॥

ऋ० ८.४४.२१॥

विनय

इस अग्नि देव से बढ़कर इस संसार में और कोई पवित्र वस्तु नहीं है, शुचिव्रत वस्तु नहीं है। यह शुचिव्रततम है। शुचि तो इसका व्रत है, नियम है, स्वाभाविक गुण है। यह ऐसा शुचिव्रत है कि इसके संस्पर्श में आकर कोई वस्तु अशुचि नहीं रह सकती, इसमें पड़कर कोई वस्तु अपवित्र नहीं रह सकती। यह सकल संसार निःसंदेह महामलिन है, पर इस पवित्र अग्नि के इस में रमने के कारण यह भी उपादेय होगया है। अग्नि रहित होजाने पर इस देह को छूने से भी शौच करना पड़ता है, परन्तु यह ऐसा महा-अशुचि देह भी इस पावक अग्नि के निवास के कारण कितना पवित्र होगया है! यह अग्नि शुचि ज्ञानी है और शुचि कवि है। इस आत्मा से

जो ज्ञान उतरता है वह पवित्र ही ज्ञान होता है। इस आत्मा से जो काव्य निकलता है वह पवित्र ही काव्य होता है। यह ज्ञान और काव्य ही क्या, अग्निदेव का तो प्रत्येक प्रकाश प्रत्येक दीप्ति ही शुचि होती है, पवित्र ही पवित्र होती है। क्या तुमने कभी आहुत होते हुवे अग्निदेव के दर्शन किये हैं ? अहा ! जब अग्नि में आहुतियां पड़ती हैं और इन आहुतिओं को पाकर यह अग्नि प्रदीप्त होता है, विशाल रूप में देदीप्यमान होता है उस समय उसकी इस रोचमान मूर्त्ति की पवित्रता, इस छवि की पवित्रता बस देखने योग्य होती है, अनुभव करने योग्य होती है। ओह, अग्नि देव की उस पावनी मूरत पर हम सौ सौ वार बलि जावें ! इसकी इन पवित्र ज्वालाओं में कोई अपवित्रता कैसे ठहर सकती है ? सचमुच सचमुच, अग्निदेव से बढ़कर इस संसार में और कोई पवित्रता कारक वस्तु नहीं है। हे मनुष्यो ! यदि तुम्हें पवित्रता प्राप्त करनी है तो तुम इस अग्निदेव का आराधन क्यों नहीं करते ? इस अपने अन्दर के अग्नि का प्रदीपन क्यों नहीं करते ?

शदार्थ—

(अग्निः) अग्नि (शुचिव्रततमः) सबसे अधिक पवित्र व्रत वाला है, यह (शुचिः विप्रः) पवित्र ज्ञानी और (शुचिः कविः) पवित्र कवि है। यह (आहुतः) आहुतियां पाकर (शुचिः) पवित्र होकर, पवित्र रूप में ही (रोचते) प्रकाशित होता है।

❀

❀ ❀

१८ माघ

बृहन्नित् इध्म एषां भूरि शस्तं पृथुः स्वरुः ।
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥

ऋ० ८.४५.२॥ सा० उ० ९.२.२१॥

विनय

जिनका सदाशक्ति इन्द्र सखा होता है वे इस संसार में बहुत चमकते हैं। जिसको कभी बुढ़ापा नहीं आ सकता, जिसकी शक्ति का कभी ह्रास नहीं हो सकता वह सदातरुण परमेश्वर जिनको अपना सख्य प्रदान करता है वे महान् यज्ञ करते हैं और महायज्ञ द्वारा इस संसार में बहुत देदीप्यमान होते हैं। वे ऐसा महान् यज्ञ करते हैं जिसमें 'इध्म' अग्नि-संदीपन बहुत भारी होता है, जिसमें 'शस्त' स्तुतिपाठ बहुत बहुत होता है और जिसका 'स्वरु' यज्ञस्तम्भ बहुत बड़ा होता है। बाहर के द्रव्यमय यज्ञ में तो बड़े से बड़ा इध्म संसार भर की काष्ठसमिधाओं को जलाने से हो सकता है, बड़े से बड़ा 'शस्त' चारों वेदों का वार वार पाठ करने से हो सकता है और बड़े से बड़ा 'स्वरु' एक बहुत बड़े वृक्ष से बनाया जा

सकता है। परन्तु इन्द्र-सखा लोग जिस ज्ञानमय यज्ञ को करते हैं उसका अग्निसंदीपन तो बहुत ही बृहत् होता है, चूंकि वे 'आत्मा'[1] को, अपने आपको इध्म बना कर जला देते हैं, अपने को इतना संदीपित करते हैं कि सब संसार में चमक उठते हैं, अपनी आत्माग्नि से विश्व भर को प्रकाशित कर देते हैं। इनके इस अन्दर के यज्ञ में 'शस्त' भी बहुत अधिक होता है, चूंकि ये भक्त लोग दिन रात में जो भी कुछ जिह्वा से बोलते हैं, जो कुछ भी मानसिक वाणी से उच्चारण करते हैं वह सब कुछ भगवान् का स्तुतिपाठ ही होता है, वह सब इन्द्र का शंसन ही होता है, इस तरह इनके यज्ञ में अखण्ड स्तुतिपाठ चलता है, ऐसा भूरि शस्त होता है जो कभी समाप्त नहीं होता। इसी तरह इनके इस यज्ञ का 'स्वरु' भी बहुत ही बड़ा होता है, चूंकि ये उस 'आदित्य'[2] को यूप बना कर अपना अध्यात्म-यज्ञ करते हैं जिससे यह समस्त संसार रूपी पशु बंधा हुवा है, उनके इस यज्ञ का झंडा (केतु) वह देदीप्य-मान सूर्य होता है जो कभी म्लान नहीं हो सकता, कभी नीचा नहीं हो सकता। ओह! इन्द्र का सखा हो जाने पर मनुष्य कितना महान् हो जाता है, कितना महान् हो जाता है?

शब्दार्थ—

(येषां) जिनका (युवा) सदा शक्ति (इन्द्रः) परमेश्वर (सखा) सखा होता है (तेषां) उनका (इध्मः) अग्निसंदीपन (बृहन् इत्) बहुत ही बृहत् होता है, (शस्तं) उनका स्तुतिपाठ (भूरि) बहुत होता है और (स्वरुः) उनका यज्ञस्तम्भ (पृथुः) बहुत बड़ा होता है।

---

1. 'आत्मा वा इध्मः' तै० ३.२.१०.३॥
2. "आदित्यो वै यूपः" ऐत० ५.२८॥ तै० २.१.५.२॥

अयुद्ध इत् युधावृतं शूर आजति सत्वभिः ।
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥

ऋ० ८.४५.३॥ सा० उ० ९.२.२१.३॥

विनय

युद्धों में विजय पाने के लिये हम सेनायें रखते हैं, छावनियां बनाते हैं, सैनिकों में हिंस्रवृत्ति जगाते और पुष्ट करते हैं, युद्धविद्या के शिक्षणालय चलाते हैं, और घातक से घातक शस्त्रास्त्रों का आविष्कार करते हैं; परन्तु क्या हम इसके लिये कभी सदायुवा 'इन्द्र' का सख्य पाने का भी यत्न करते हैं ? क्या हम विजय पाने के लिये कभी मनुष्यों की सात्विक वृत्तियां जगा कर उनके महान् सत्वों, महान् बलों को संग्रह करने की भी जरूरत समझते हैं ? बात यह है कि हमें इसमें विश्वास नहीं कि जिसका इन्द्र सखा है उसमें इतनी शूरता

आ जाती है कि वह अकेला ही, बिना युद्धविद्या जाने, बिना युद्ध का अनुभव प्राप्त किये, योद्धाओं से घिरे हुवे सैन्य को भगा देता है, अपने सत्त्वों द्वारा हरा देता है। असल में यह सच है कि परमेश्वर की मैत्री पाने वाला मनुष्य बिना युद्ध किये, श्रीकृष्ण की तरह बिना हथियार उठाये, प्रतिद्वन्द्वी को जीत लेता है। सचमुच परमेश्वर से शक्ति पाने वाला महापुरुष अकेला ही चतुरंगिणी सेना रखने वाले महाशत्रु को अपनी इन्द्र-शक्ति के सामने झुका देता है। इस सत्य में हमें विश्वास इसलिये नहीं होता चूंकि हम परमेश्वर को नहीं जानते, उसकी शक्ति को नहीं देखते, उस रास्ते नहीं चलते। ओह! हम कब उस रास्ते चलेंगे? हम कब विजय प्राप्ति के लिये परमेश्वर का सख्य पाना अनिवार्य समझेंगे? हम कब पशुबल का संग्रह करने की अपेक्षा आत्मिक सत्वों को बढ़ाना सिखा कर संसार को सुखी करेंगे?

शब्दार्थ—

(येषां) जिनका (युवा) सदायुवा, नित्यशक्ति (इन्द्रः) परमेश्वर (सखा) सखा है, (शूरः) शूर होकर वह (अयुद्ध इत्) युद्ध विद्या न जानने वाला, युद्ध का अनुभव न रखने वाला भी (युधावृतं) योद्धाओं से घिरे हुवे शत्रुबल को (सत्वभिः) अपने आत्मिक सत्वों से, सात्विक बलों से (आ अजति) परास्त कर देता है।

*

* *

उत त्वं मघवन् शृणु, यस्ते वष्टि ववक्षि तत् ।
यद् वीळयासि वीळु तत् ॥

ऋ० ८.४५.६॥

विनय

हे मघवन्! तू मुझे भी सुन, जरा मेरी प्रार्थना को भी सुन। तू तो प्रार्थनाओं को ऐसा सुनने वाला है कि तुझ से जो प्रार्थी जो कुछ चाहता है, कामना करता है उसे तू वह प्राप्त करा देता है, उसे वह दे देता है। मैं जानता हूँ, अच्छी तरह जानता हूँ कि तू मनुष्य को सब कुछ दे देता है, उसकी सब शुभ कामना को पूर्ण कर देता है। पर फिर भी तू मेरी प्रार्थना को क्यों नहीं सुनता, इसे क्यों नहीं पूरी करता?

हे इन्द्र ! तू मुझे दृढ़ करदे, शक्तियुक्त करदे, पूरा समर्थ बना दे। ओह ! तू तो जिसे दृढ़ करना चाहता है और दृढ़ बना देता है, वह पूरी तरह दृढ़ हो जाता है, अडिग हो जाता है। फिर उसे संसार की कोई शक्ति दबा नहीं सकती। वह अच्छेद्य, अभेद्य होजाता है। इस संसार के हज़ारों शत्रु उसे हरा नहीं सकते, लाखों दुःख क्लेश उसे डरा नहीं सकते, असंख्यों प्रलोभन उसे गिरा नहीं सकते। वह पूर्ण 'वीळु' हो जाता है। हे इन्द्र ! तू मुझे भी ऐसा वीर बना दे, ऐसा दृढ़ बना दे। तू मेरी इस प्रार्थना को सुन, मेरी इस कामना को पूर्ण कर।

शब्दार्थ—

(मघवन्) हे ऐश्वर्यवन् ! ईश्वर ! (त्वं) तू (उत) और भी, मुझे भी (शृणु) सुन, (यः) जो प्रार्थी (ते) तुझसे जो कुछ (वष्टि) चाहता है, कामना करता है उसे तू (तत्) वह (विवक्षि) प्राप्त करा देता है। (यत्) जिसे तू (वीळयसि) दृढ़ करता है (तत्) वह (वीळु) दृढ़ हो जाता है।

❀

❀ ❀

यच्चिद्धि शश्वतामसि इन्द्र साधारणस्त्वम् ।
तं त्वा वयं हवामहे ॥

ऋ० ८.६५.७॥

विनय

परमेश्वर ! तुम सभी मनुष्यों में व्याप रहे हो । तुम तो सभी वस्तुओं में व्याप रहे हो, और समान रूप से व्याप रहे हो । तुम सब के लिये साधारण हो । तुम सब के हो, समान रूप से सब के हो । छोटा बड़ा, अमीर ग़रीब, इस देश का उस देश का, इस धर्म का उस धर्म का—तुम सब के हो, समानभाव से सब के हो । अनादि काल से जो जीव होते रहे हैं उन सभी के तुम रहे हो, और अनन्तकाल तक जो जीव होते रहेंगे उन सभी के तुम रहोगे । इस तरह तुम सनातन सर्वसाधारण हो । तो भी हम तुम्हें पुकारते हैं; उन्हीं तुम्हें पुकारते हैं जो तुम सर्वसाधारण हो । तुम ऐसे

अद्भुत हो कि सब के लिये साधारण होते हुवे भी तुम सब के लिये विशेष भी होते हो। सब भक्तों की आवश्यकताओं को तुम इतनी पूरी तरह पूर्ण कर रहे हो कि हर एक यही अनुभव करता है कि मानों तुम्हें उसके सिवाय और किसी की चिन्ता नहीं है। सभी मनुष्यों का विकास तुम इतनी सूक्ष्मता में और इतनी परिपूर्णता के साथ कर रहे हो कि हरेक मनुष्य को अनुभव होगा कि मानों तुम अपनी संपूर्ण शक्ति से उसी के विकास में लगे हुवे हो। इसीलिये, हे इन्द्र! हम तुम्हें पुकारते हैं। सब का कल्याण करते हुए तुम हमारे कल्याण के लिये आओ, सभी की उन्नति करते हुवे तुम हमारी उन्नति के निमित्त आओ। जो दूसरों का अकल्याण व अवनति चाहता हुवा तुम्हें अपने लिये पुकारता है वह अज्ञानी तुम्हें जानता नहीं। इसलिये हे इन्द्र! हे साधारण! तुम तो सब के होते हुवे हमारी उन्नति व कल्याण के लिये आओ। हम तुम्हें पुकार रहे हैं, हे इन्द्र! हम तुम्हें प्रेमवश पुकार रहे हैं।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) परमेश्वर! (यत् चित्) यद्यपि (हि) सचमुच (त्वं) तुम (शश्वतां) सनातन रूप से सब के, सब मनुष्यों के लिये (साधारणः) साधारण (असि) हो, तो भी (तं) उन्हीं (त्वा) तुम्हें (वयं) हम (हवामहे) पुकारते हैं।

❀

❀ ❀

इन्द्रं वृत्राय हन्तवे देवासो दधिरे पुरः।
इन्द्रं वाणी रनूषत समोजसे ॥

ऋ० ८.१२.२२॥

विनय

देव लोग वृत्र वध के लिये इन्द्र को आगे करते हैं, इन्द्र को पुरोहित बनाते हैं। यह इन्द्र ही है जो वृत्रासुर का वध कर सकता है। जैसे आधिदैविक जगत् में सूर्य-इन्द्र मेघ-वृत्र का वध किया करता है, जैसे अधिभूत के देव विद्वान् लोग राजा-इन्द्र द्वारा पापिओं का विनाश करते हैं, वैसे यहां अध्यात्म में आत्मा-इन्द्र है जो 'पाप्मा' वृत्र का हनन करता है। पाप हम पर दिनरात हमला करता रहता है और प्रायः सदा सफल होता रहता है। हम जानते हैं कि यह पाप है, यह नहीं करना चाहिये तो भी हम रुक नहीं सकते। हम इन्द्रियों को रोकते हैं, मन से विचार करते हैं और बुद्धि से निश्चय करते हैं, पर फिर भी हम रुक नहीं सकते। इसका कारण यह है कि हम आत्मा द्वारा पाप का नाश नहीं करते हैं, हमने आत्मा को पीछे डाल रक्खा है। देखो, इन्द्रियों से परे मन है, मन से परे बुद्धि है और बुद्धि से भी परे जो है वह हमारा असली आत्मा है। यदि हम उस आत्मा को आगे ले आवें, पुरो-

हित कर लेवें, इन्द्रियादि देवों को इस आत्मा का अनुयायी, वश्य, पीछे चलनेवाला बना लेवें तो फिर वृत्रासुर कभी दुबारा हमारे सामने न आ सके, इसका समूल नाश हो जावे। यह काम है, इच्छा है, स्वार्थ है जो सब पापों की जड़, मूल है। पर आत्मप्रकाश हो जाने पर इस स्वार्थ का हममें कुछ काम नहीं रहता, यह विलीन हो जाता है। आत्मराज्य होजाने पर यह 'काम' इन्द्रियादिओं को अपना अधिष्ठान नहीं बना सकता, तब तो ये हमारे देव आत्मिक ओज के अधिष्ठान बन जाते हैं। वृत्र का अन्धकार हटकर हमारे अन्दर आत्मसूर्य का ओज चमकने लगता है। और देखो, आत्मा के इस ओज को प्रकट करने के लिये ये वाणियां, वाणी की स्तुतियां बहुत सहायक होती हैं। जब हम सुनते हैं, स्वाध्याय करते हैं या स्वयं गाते हैं कि आत्मा की शक्ति इतनी महान् है तो इससे आत्मा का ओज हममें जागृत होता है। वेद मंत्र जो इन्द्र की स्तुतियों से भरे पड़े हैं वे इसीलिये हैं कि हम इस दिव्य वाणी द्वारा आत्मिक ओज को अपने में सम्यक्तया प्रकट कर लेवें और उस द्वारा महाबली वृत्र का संहार कर देवें। अतः आओ, भाइओ! हम भी इन्द्र को पुरोहित करके अपने में वृत्र का समूल नाश कर लेवें और इसके लिये अपने में आत्मिक ओज को स्तुति प्रार्थनाओं द्वारा सम्यक्तया भर लेवें।

शब्दार्थ—

(देवासः) देवों ने (वृत्राय हन्तवे) वृत्र के हनन के लिये (इन्द्रं) इन्द्र को (पुरः दधिरे) पुरोहित किया है और (संओजसे) आत्मिक ओज की सम्यक् प्रकार से उत्पत्ति के लिये (वाणीः) ये वाणियां (इन्द्रं) इन्द्र की ही (अनूषत) स्तुति कर रही हैं।

न ह्यंग नृतो त्वदन्यं विन्दामि राधसे ।
राये द्युम्नाय शवसे च गिर्वणः ।।

ऋ० ८.२४.१२।।

विनय

हे नचाने वाले ! हे इन सब चराचर सृष्टिओं को कठ-पुतलिओं की तरह हिलाने वाले ! मैं तुम्हारी शरण पड़ा हूँ । जब से मैंने अनुभव किया है कि इस गतिमय समस्त ब्रह्माण्ड को गति देने वाले तुम हो, इस संसार में होने वाले छोटे से छोटे और बड़े से बड़े कर्मों को प्रेरित करने वाले तुम हो, तुम्हारी इच्छा बिना इस संसार में घास का एक तिनका भी नहीं हिल सकता और तुम्हारी इच्छा होने पर एक पल में इस पृथिवी पर प्रलय आ सकता है, तब से मैं तुम्हारी शरण आ पड़ा हूँ । मैं देखता हूँ कि तुम्हारी कृपा बिना मैं कुछ

नहीं पा सकता। इस संसार में तुम्हारे सिवाय और कोई नहीं है जो मुझे कोई सिद्धि व सफलता दिला सके। मुझे कोई नहीं दिखायी देता जो मेरे छोटे से छोटे अभीष्ट की सिद्धि कर सके। मेरी जीवन-साधना के तो एक मात्र तुम्हीं आधार हो! पर हे वाणियों से संभजनीय! मैं तो देखता हूँ कि यदि मैं धन पाना चाहूं, तेज पाना चाहूं, बल पाना चाहूं या कुछ और पाना चाहूं, इन सब वस्तुओं को भी दे सकने वाला तुम्हारे सिवाय इस संसार में मेरे लिये और कोई नहीं है। तो मैं और किस का आश्रय लूं? मैं तो हे इन्द्र! तुम्हारी शरण पड़ा हूँ, सब जगह भटक भटक कर अब तुम्हारी शरण पड़ा हूँ।

शब्दार्थ—

(अंग) हां, (नृतः) हे नचाने वाले! (राधसे) साधना-सिद्धि व सफलता के लिये मैं (त्वत्) तुझ से (अन्यं) अन्य किसी को (न हि) नहीं (विन्दामि) पाता हूँ, (गिर्वणः) हे वाणी से संभजनीय! (राये) धन के लिये (द्युम्नाय) तेज के लिये (च) और (शवसे) बल के लिये मैं और किसी को नहीं पाता हूँ।

* *

*

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु ।
शं नः कुरु प्रजाभ्यः, अभयं नः पशुभ्यः ॥

यजु० ३६.२२॥

विनय

हम किसी भी घटना से, किसी भी स्थान में, किसी भी काल में क्यों डरते हैं ? वास्तव में डरने का कहीं भी कोई कारण नहीं है । फिर भी हे परमेश्वर ! हम इस लिये डरते हैं क्योंकि हम तुम्हें भूल जाते हैं, क्योंकि हम सदा सर्वत्र सब घटनाओं में तुम्हारा हाथ नहीं देखते । यदि हम संसार की सब घटनाओं को तुम्हारा 'संचेष्टित' देखें, तुम द्वारा की गयीं, तुम द्वारा सम्यक्तया की गयी देखें तो हम कभी भी भयभीत न होवें । तुम तो परम मंगलकारी हो, सम्यक् ही चेष्टा करनेवाले हो, सदा सब का कल्याण ही करनेवाले हो । इसलिये हे प्रभो ! तुम जहां जहां से चेष्टा करते हो, जिस जिस स्थान, काल, कारण व कर्म से अपना संचेष्टन करते हो वहां वहां से हमें अभय करदो, वहां वहां से हमें बिलकुल निर्भयता ला दो । पर तुम कहां संचेष्टन नहीं कर रहे हो ? तुम किस जगह नहीं जाग रहे हो ? ओह, यदि हम संसारी

मनुष्य इतना अनुभव करें तो इस संसार में हमारे लिये अभय ही अभय हो जावे। इस संसार में सुख सौहार्द प्रेम और निर्भयता का राज्य हो जावे। कहीं कोई निर्बल को न सतावे कभी कोई मूक पशुओं पर भी हाथ न उठावे। तब न केवल सब प्रजायें सुख शान्ति पावें, न केवल बालक अबला आदि सब मनुष्य प्राणी क्षेम मनावें, किन्तु संसार की आगे आने वाली संततियां भी कल्याण को प्राप्त करें तथा सब पशु पक्षी भी इस बृहत् प्राणी परिवार के अंग होते हुवे निर्भय होकर इस पृथ्वी पर विचरें। इस समय जो यह संसार स्वार्थान्ध होकर गरीबों को नाना प्रकार से सता रहा है, अपने भोग विलास के लिये प्रतिदिन असंख्यों पशुओं को काट रहा है— यह सब घोर अनर्थ तब शान्त हो जावे, सब पाप अन्याय समाप्त हो जावे। हे प्रभो! हे जगदीश्वर! तुम ऐसी ही कृपा करो; हम सब प्राणी सदा सर्वत्र तुम्हारे ही 'समीहन' को अनुभव करें, तुम ऐसी ही कृपा करो। और हमारी प्रजाओं के लिये तुम ऐसा ही 'शं' कर दो, हमारे पशुओं के लिये भी तुम ऐसा ही परिपूर्ण 'अभय' कर दो।

शब्दार्थ—

(यतः यतः) जहां जहां से तुम (सं ईहसे) सम्यक् चेष्टा करते हो (ततः) वहां से (नः) हमें (अभयं) अभय (कुरु) करदो। (नः) हमारी (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये (शं) कल्याण (कुरु) करदो और (नः) हमारे (पशुभ्यः) पशुओं के लिये (अभयं) अभय करदो।

*

* *

२५ माघ

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः द्यौः समुद्रसमं सरः ।
इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते ॥

यजु० २३.४८॥

विनय

क्या तुम इस स्वयंप्रकाश और सर्वजगत्प्रकाशक सूर्य को देखकर आश्चर्य करते हो कि इसके समान कोई दूसरी ज्योति इस संसार में कहाँ हो सकती है ? पर देखो, यह ब्रह्म, यह वेद उसी तरह स्वयंप्रकाश और सर्वजगत्प्रकाशक है। हमारे अन्दर यह ब्रह्म, यह ज्ञान, यह ज्ञानमय ब्रह्म अन्दर की ज्योति है, अन्दर का सूर्य है,असली सूर्य है। क्या तुम इस पारावार समुद्र को देखकर समझते हो कि इस जैसा जलाशय, इतना बड़ा सरोवर और कोई नहीं हो सकता ? नहीं, जरा सूक्ष्मता से देखो कि यह अन्तरिक्ष एक इसी प्रकार का जलवाष्प-मय बड़ा भारी जलसमुद्र है, हमारे अन्दर इसी प्रकार का हृदयान्तरिक्ष, बहुत बड़ा मानस सरोवर है, इतना ही गभीर, इतनी ही बड़ी बड़ी तरंगों वाला मनस्तत्व का बना हुआ दिव्य

समुद्र है। क्या तुम बड़ी भारी पृथिवी को देखकर सोचते हो कि इससे अधिक बड़ी, इससे अधिक वर्षों वाली चिरकालीन कोई और वस्तु क्या हो सकती है? परन्तु, देखो यह इन्द्र, यह आदित्य इस पृथिवी से लाखों गुना बड़ा और इस पृथिवी से लाखों वर्षों बड़ा है। हमारे अन्दर यह 'इन्द्र' आत्मा, यह परमात्मा पृथिवी से अनन्तों गुणा बड़ा है, और यदि इसकी वर्षों से गणना करें तो इसका कभी आदि ही नहीं है, यह अनादि है, सनातन है। और क्या तुम इस पृथिवी के बृहत् परिमाण को देखकर पूछते हो कि क्या कोई ऐसी वस्तु भी हो सकती है जिसकी कोई मात्रा नहीं, कोई परिमाण नहीं? तो देखो, इस आदित्य की 'गौ' रूप किरणें इतनी हैं कि उनकी मात्रा नहीं हो सकती, वे गिनीं नहीं जा सकतीं। अन्दर आत्मा-इन्द्र की गोरूप किरणें, वाणी आदि आत्म-शक्तियां इतनी हैं कि उनका किसी तरह परिमाण नहीं किया जा सकता; बस, यही कहा जा सकता है कि ये अनन्त हैं, ये अनन्त हैं।

शब्दार्थ—

(ब्रह्म) वेद या ज्ञानमय ब्रह्म (सूर्यसमं) सूर्य जैसी (ज्योतिः) ज्योति है। (द्यौः) अन्तरिक्ष सागर या मानस सागर (समुद्र समं) पार्थिव समुद्र जैसा (सरः) जलाशय, सरोवर है। (इन्द्रः) आदित्य या महान् आत्मा (पृथिव्यै) पृथिवी से (वर्षीयान्) बड़ा या अधिक वृद्ध है। (गोः) किरणों का या आत्मशक्तियों का (मात्रा) परिमाण (न विद्यते) नहीं है।

❀

❀ ❀

२६ माघ

इयं वेदिःपरो अन्तःपृथिव्याः,अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥

ऋ० १.१६४.३५॥ यजु० २३.६२॥ अथर्व० ९.१०.१४॥

विनय

क्या तुम पूछते हो कि इस अति विस्तीर्यमाण पृथ्वी का परला सिरा किस जगह है, अन्तिम सीमा कहां है ? अरे, जहां तुम खड़े हो यह वेदि, यह यज्ञवेदि, ही इस पृथ्वी की समाप्ति सीमा है। प्रत्येक मनुष्य की अपनी यज्ञवेदि ही उसके लिये इस गोलाकार पृथ्वी की अन्तिम सीमा है। यज्ञ के रहस्य के जानने वाले जानते हैं कि यह संपूर्ण ही पृथ्वी वेदि-रूप है, और अध्यातम यज्ञ के लिये हम स्वयं, हमारा यह शरीर, ही वेदिरूप है। इस घूमने वाले संसार चक्र की, इस संसार के संसरण की सीमा भी हमारी यह शरीररूपी वेदि ही है। इस संसार सागर के परले किनारे पहुँचने के लिये हमें और

कहीं जाने की जरूरत नहीं है, यह 'परो अन्तः' हमारे अन्दर 'उरः' (हृदय) रूपी यज्ञवेदि पर ही है। जब मनुष्य को इस असली यज्ञवेदि का पता लग जाता है तभी वह भवसागर के परले पार पहुँच जाता है।

तुम इस संपूर्ण भुवन के नाभिस्थान को पूछते हो ? देखो, यह यज्ञ ही वह केन्द्रीय वस्तु है जिससे कि यह सब ब्रह्माण्ड, इस ब्रह्माण्ड के सब संसार, संसारों की सब वस्तुएँ, परस्पर बंधी हुई हैं। यज्ञ रूप से ही परमेश्वर इस सब संसार को यथावत् जोड़े हुवे हैं। यज्ञ न रहे तो सब संसार बिखर जावे, सब वस्तुएँ जुदा जुदा होकर नष्ट हो जावें। यज्ञ ही वह वस्तु है जो सब का संगतिकरण करने वाली, सब को ठीक तरह बांध रखने वाली, सर्वत्र सब की नाभि है।

क्या तुम पूछते हो इस आदित्यरूपी महावीर्यशाली 'अश्व' का वीर्य क्या है ? तो देखो, यह वीर्य सोम है। सोमादि वनस्पति के रस के हवन से आदित्य द्वारा सब संसार में सब प्रकार की समृद्धि उत्पन्न होती है, वृष्टि रूप सोमरस के सेचन से सब अन्न और अन्नाश्रित समस्त संसार उत्पन्न होता है। यह सभी संसार उस वृषा 'आदित्य' पुरुष द्वारा प्रकृति की भोग्यता रूपी सोम से या जीवों में रहने वाले भोग प्राप्त करने के रस (इच्छा) रूपी सोम से उत्पन्न हुवा है और होता रहता है।

और तुम पूछते हो कि सब वाणिओं का परम व्योम कौन है ? यह ब्रह्मा, चारों वेदों का ज्ञाता ब्रह्मज्ञ ब्रह्मा, या चारों प्रकार के सम्पूर्ण ज्ञान का आश्रय स्वयं परब्रह्म ब्रह्मा वह परम आकाश है जहां से संसार भर की सब वाणियां

निकलती हैं और लीन होती हैं। हमारे सब शास्त्रों का, सब वाणिओं का, सब ज्ञानों का यही एक रक्षा-स्थान है, यही नित्य आधार है, यही परम व्योम है।

शब्दार्थ—

(इयं) यह (वेदिः) यज्ञवेदि (पृथिव्याः) पृथिवी का (परः) परला (अन्तः) किनारा है, (अयं) यह (यज्ञः) यज्ञ (विश्वस्य) संपूर्ण (भुवनस्य) ब्रह्माण्ड का (नाभिः) बांधने वाला नाभिस्थान है। (अयं) यह (सोमः) सोम (वृष्णः) महा वीर्यशाली (अश्वस्य) व्यापक आदित्य का (रेतः) वीर्य, उत्पादक बीज है, और (अयं) यह (ब्रह्मा) चारों वेदों का ज्ञाता (वाचः) वाणी का (परमं) परम (व्योम) आश्रय स्थान है।

❀

❀ ❀

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

यजु० ३४।१॥

विनय

यह मन बड़ा प्रबल है। यह सोते जागते कभी भी चैन नहीं लेता। जितनी देर मैं जागता रहता हूँ उतनी देर यह कुछ न कुछ सोचता हुवा प्रतिक्षण भटकता ही फिरता रहता है; कभी भूत की, कभी भविष्यत् की, कभी यहां की, कभी वहां की, बड़ी दूर दूर की, किन्हीं न किन्हीं बातों के विषय में लगातार संकल्प विकल्प करता रहता है। और जब मैं सो जाता हूँ, मेरी सब जागृत क्रियायें बन्द हो जाती हैं, तब भी यह मन अपने आप में ही उसी तरह काम करता रहता है, कहीं कहीं के दूर दूर के स्वप्न देखता फिरता रहता है। बल्कि सुषुप्ति काल में भी इसकी वृत्ति बन्द नहीं होती। सचमुच यह कथानक के 'भूत' की तरह चौबीसों घंटे बड़े वेग से कुछ न कुछ करता ही रहता है। अगले ही क्षण में यह न जाने

कितनी दूर जा पहुँचता है। वाह्य प्रकाश का प्रसिद्ध अति-तीव्र गतिवेग भी इसके गतिवेग के सामने तुच्छ है। यह आन्तर प्रकाश तो एक क्षण में चाहे कितनी दूर, असंख्यातों मील, पहुँच सकता है। उस 'भूत' की तरह यह भी क्षण में बड़े बड़े कार्य पूरे कर सकने वाली एक महान् शक्ति है, परन्तु यह दैव शक्ति है, प्रकाशमय ज्योतिर्मय शक्ति है। यह आन्तर ज्योति है। बाहर का केवल रूप का प्रकाश ही नहीं, किन्तु शब्द, स्पर्श, गन्ध आदि सभी का प्रकाश हमें हमारे जिन वाह्य करणों द्वारा हो रहा है; उन सब इन्द्रियरूप ज्योतिओं का भी एक ज्योति यह मन है। यह अन्दर का करण है। सब के सब ज्ञान-प्रकाश के साधन इस आन्तर ज्योति में—इस मन में—एक हो जाते हैं। यह मन महाशक्ति है, दिव्य ज्योतिर्मय महाशक्ति है। मुझे तो, हे प्रभो! जब से इस मन का, इस संकल्पमय दिव्य महाशक्ति का, ज्ञान हुवा है तब से मेरा तुम से अन्य कुछ प्रार्थना करना समाप्त हो गया है, तबसे मेरी तुमसे केवल एक प्रार्थना रह गयी है, "तुम मुझे इतना बल दो कि मेरा यह मन केवल शुभ, कल्याण संकल्पों का ही करने वाला हो जावे।" यह जो मन मुझमें चौबीसों घंटे कुछ न कुछ संकल्पन करता रहता है, उस संकल्प प्रवाह में एक भी बुरा अशुभ संकल्प मुझमें न उठे। बस, इतना हो जायगा तो शेष सब कुछ स्वयमेव हो जायगा। तूने मुझे इस दिव्य शक्ति को प्रदान करके मुझे सब कुछ प्रदान कर दिया है। बस, मुझे इतनी शक्ति और देदे कि मैं तेरे इस यन्त्र की दिव्यता को कायम रख सकूँ, इस मन द्वारा निरन्तर दिव्य शुभ कल्याणकारी संकल्पों का ही प्रवाह चला सकूँ, कभी

अहित चाहनेवाले गिरानेवाले अपवित्र अशिव संकल्पों को न उठने दे सकूँ। बस, हे प्रभो! तू मेरे मन को इस तरह शिवसंकल्प बना दे, इस महाशक्ति को शिव-संकल्पमयी कर दे। फिर मुझे और कुछ नहीं चाहिये, और कुछ नहीं चाहिये।

शब्दार्थ—

(यत्) जो (दैवं) दिव्य शक्ति रूप [मेरा मन] (यत्) जो (जाग्रतः) मेरे जागते हुवे (दूरं उदैति) दूर दूर फिरता है और (सुप्तस्य) मेरे सोते हुवे (उ) भी (तत्) जो वह (तथैव एति) उसी तरह दूर दूर जाता है, (तत्) वह (दूरंगमं) दूर दूर पहुँचनेवाला (ज्योतिषां एकं ज्योतिः) ज्योतिओं की एक ज्योति (मे मनः) मेरा मन (शिवसंकल्पं) सदा शुभ ही संकल्प करने वाला (अस्तु) होजावे।

*

* *

२८ माघ

अहस्ता यदपदी वर्धत क्षाः शचीभिर्वेद्यानाम् ।
शुष्णं परि प्रदक्षिणित् विश्वायवे निशिश्नथः ॥
ऋ० १०.२२.१४॥

विनय

हे इन्द्र ! तुम सब मनुष्यों का भला करनेवाले हो, सब विश्व का कल्याण करनेवाले हो। जब कभी कोई महाअसुर विश्वव्यापी होकर विश्व भर को पीड़ित कर देता है तो तुम्हीं उसका संहार करके विश्व का पालन करते हो। यह मायावी 'शुष्ण असुर' हमारे रुधिर को, धन जन भोजन जीवन प्राण आदि रुधिर को, इस प्रकार शोषण करता है कि हमें इस का कुछ भी पता नहीं लगता। असली शोषण कर्म करनेवाले और इस चूस में बड़ा भाग बटानेवाले इसके बड़े बड़े साथी असुर भी अपने आप को अन्त तक छिपाये रखते हैं। रुधिर आदि की बहुत कमी होजाने पर जब हम जानना चाहते हैं कि ये हमारा शोषण करनेवाले कौन हैं तब भी ये विदित नहीं होते हैं, 'वेद्य' ही रहते हैं। इतना ही नहीं किन्तु ये 'वेद्य' असुर

अपने इस राक्षसी शोषण के नृशंस कृत्य को छिपाने के लिये अपनी आसुरी 'शचीओं' द्वारा, शक्तिओं व कर्मों द्वारा एक बहुत बड़ा आवरण खड़ा कर लेते हैं। एक नयी पृथिवी, एक नयी सृष्टि ही रचकर हमारी आंखों में धूल डालते रहते हैं। हम आंखों से इनकी इस कौशल पूर्ण पार्थिव रचना को देखते हुवे 'वाह वाह' करते जाते हैं और अपने आप को चुसवाते जाते हैं। परन्तु हे इन्द्र! छिपे हुवे इन शोषक असुरों का यह पार्थिव विस्तार चाहे कितना बड़ा हो, चाहे कितना आडम्बर पूर्ण हो, किन्तु न इसके हाथ होते हैं और न पैर। यह माया ही माया होता है। तुमसे अनुप्राणित न होने के कारण न तो इसमें कोई असली कर्मशक्ति होती है और न उसका कोई आधार होता है। अतः इस 'अहस्ता अपदी' मायामयी पृथिवी को तुम काफ़ी हद तक बढ़ने भी देते हो। शुष्णासुर अपने इस विश्वव्यापी शोषण की आड़ करने के लिये इसे इतना बढ़ाता जाता है कि इस आवरण को विश्व भर में फैला देता है और इस विश्वव्यापी आवरण द्वारा अपने आप को सब जगह परिवेष्टित कर लेता है, सब तरफ़ से लपेट लेता है, पूरी तरह छिपा लेता है और एक विश्व-व्यापी माया दुर्ग में अपने को सुरक्षित कर लेता है। पर इसके इतना बढ़ जाने पर भी हे इन्द्र! तुम इस 'शुष्ण' के सब पार्थिव विस्तार को एक बार में छिन्न भिन्न कर देते हो, शुष्णासुर के सब ठाठ को गिरा देते हो, इसकी संपूर्ण माया को पूरी तरह मिटा देते हो। यह सब हे इन्द्र! तुम सब मनुष्यों के लिये, विश्व कल्याण के लिये करते हो। और यह तुम्हारा ही काम है। यह सब तुम्हीं कर सकते हो, केवल तुम्हीं कर सकते हो।

शब्दार्थ--

हे इन्द्र! (यत्) जब (वेद्यानां) वेदितव्य, छिपे हुवे [शोषक असुरों] की (शचीभिः) शक्तियों से (अहस्ता) बिना हाथ वाली (अपद्री) बिना पैर वाली (क्षाः) पृथिवी, पार्थिव आवरण, माया की भूमि (वर्धत) बढ़ती है तो तुम (शुष्णं) शुष्णासुर को (परि) परिवेष्टित करके (प्रदक्षिणित्) घेरे हुवे, लपेटे हुवे, छिपाये हुवे [इस पृथिवी को] (विश्वायवे) सब मनुष्यों के हित के लिये (निशिश्नथः) पूरी तरह नष्ट कर देते हो।

❀

❀ ❀

२६ माघ

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि॥

यजु० १९।९॥

विनय

हे सोम! तू तेजः स्वरूप है, तू मुझमें तेज को धारण करा। तेजस्विता, उग्रता के बिना मैं प्रलोभनों को नहीं जीत सकता और प्रलोभनों को बिना जीते मैं शारीरिक वीर्य का

भी संरक्षण नहीं कर सकता। इसलिये तेज को देकर, हे वीर्य के भंडार ! तू मुझमें वीर्य को धारण करा, मुझे ऊर्ध्वरेता बना, मेरे सब अंगों में नवजीवन की स्फूर्त्ति उत्पन्न करा, जिस से मैं सच्चे बल को धारण कर सकूं। तू तो बल है, संसार के सब बल-हस्तिबल, विद्युत्बल, पृथ्वी आदि को धारण करने का इन्द्रबल तक सब बल—तेरे ही सेवन से प्राप्त होते हैं। तो, मैं निर्बल तेरे सिवाय और कहां से बल की याचना करूँ ? बलहीन रहकर मैं आत्मा को नहीं पा सकता, कभी ओज को, आत्मिक तेज को नहीं प्राप्त कर सकता। अतः मुझे बली बनाकर, हे ओजोमय ! तू मुझे ओज भी प्रदान कर। जब मुझमें ओज आजायगा, आत्म तेज समा जायगा तो हे मन्यु-रूप ! मुझमें भी पाप के दलन के लिये, अन्याय के विध्वंस के लिये स्वभावतः मन्यु प्रदीप्त हुवा करेगा, वह रागद्वेष रहित प्रशान्त आत्म-ज्वलन प्रकट हुवा करेगा जिस के उदय होने पर सब पाप भस्म हो जाता है और सब असत्य विलीन हो जाता है। परन्तु साथ ही, हे सहःस्वरूप ! तू मुझे आत्मा की वह 'सहःशक्ति' भी प्रदान कर जिससे मैं घोर से घोर मुसीबतों को भी हँसता हुवा सह सकूँ, उस तपस्या की शक्ति को धारण करा जिसके सामने कोई विरोधिनी शक्ति नहीं ठहर सकती, जिसके होने पर असह्य से असह्य विपत्तियां खेल हो जाती हैं और जिसकी अग्नि में कठोर से कठोर हृदय भी पिघल जाते हैं। इस प्रकार हे सोम ! तुझे अपने में बसा-कर, तेरा पान करके मैं स्थूल तेज से लेकर तपस्या के तेज तक तेरे सब तेजों को प्राप्त कर लेऊँ, हे सोम ! तेरे छेओं साम-र्थ्यों को अपने में धारण कर सोममय होऊँ।

शब्दार्थ—

(तेजः) तू तेज (असि) है, (तेजः) तेज को (मयि) मुझ में (धेहि) धारण करा। (वीर्यं) तू वीर्य (असि) है (वीर्यं) वीर्य को (मयि) मुझमें (धेहि) धारण करा। (बलं) तू बल (असि) है, (बलं) बल को (मयि) मुझमें (धेहि) धारण करा। (ओजः) तू ओज (असि) है (ओजः) ओज को (मयि) मुझमें (धेहि) धारण करा। (मन्युः) तू मन्यु (असि) है (मन्युं) मन्यु को (मयि) मुझमें (धेहि) धारण करा। (सहः) तू सहः (असि) है, (सहः) सहः को (मयि) मुझमें (धेहि) धारण करा।

*

* *

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतं, शृणुयाम शरदः शतं, प्रब्रवाम शरदः शतं, अदीनाः स्याम शरदः शतं, भूयश्च शरदः शतात् ॥

यजु० ३६.२४॥ ऋ० ७.६६.१६॥

विनय

देखो, सामने यह सूर्य, यह संसार की आंख, यह देवों का हितकारी चक्षु, अपने निर्मल शुक्र प्रकाश में चमक रहा है, उदित हो रहा है। नहीं, और गंभीरता से देखो, वह महान् सूर्य, प्रेरक प्रभु, हम में से प्रत्येक के सम्मुख सदा उदय हुवा हुवा है; अपने प्रकाश से सब संसार को दर्शनशक्ति देता हुवा सदा सब देवस्वभाव मनुष्यों का निरन्तर हित करता हुवा यह परम विशुद्ध चक्षु अनादि काल से चमक रहा है। आओ, मनुष्यो! आओ, हम इस सूर्य को देखते हुवे सौ वर्ष तक जीते रहें, हम सौ वर्ष तक इस दिव्य सूर्य को आन्तर नेत्रों से अनुभव करते रहें और सौ वर्ष तक उसकी अनुकूलता में प्राणों को धारण करते रहें। ओह! यदि हम याद रखें कि ऊपर वह आंख हमें सदा देख रही है, वह विशुद्ध चक्षु हमें निरन्तर ठीक ठीक जान रही है तो हम क्यों न विशुद्ध आचरण वाले

होंगे, और क्यों न पूरे सौ वर्ष तक जीने वाले होंगे ? यदि हम ध्यान रखें कि वह देवों का हितकारी चक्षु निरन्तर हमारी अध्यक्षता कर रहा है तो हम क्यों न दिव्य आचरण वाले होंगे, क्यों न सौ वर्ष तक दिव्य जीवन ही बितायेंगे ? तो, भाइओ ! आओ, हम उस सूर्य के प्रकाश में सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक जीवें; उस दिव्य आंख के नीचे सौ वर्ष तक सुनें, सौ वर्ष तक प्रवचन करें; और उसकी ही अध्यक्षता में सौ वर्ष तक अदीन स्वावलम्बी और उत्साहपूर्ण जीवन व्यतीत करें। उसकी अध्यक्षता में रहना और दीन पराधीन होना यह कैसे हो सकता है ? नहीं नहीं, हम तो सौ वर्ष से भी अधिक देर तक देखते और जीते हुवे, सुनते और सुनाते हुवे, अपराधीन पुरुषार्थमय पूर्ण जीवन बितावेंगे। एवं अदीन होकर हम सौ वर्ष से भी अधिक जीवेंगे, अवश्य सौ वर्ष से भी अधिक जीवेंगे।

शब्दार्थ—

(तत्) वह (देवहितं) देवों का हितकारी (चक्षुः) चक्षु, सबको दिखाने वाला, सर्वाध्यक्ष, ज्ञानस्वरूप (पुरस्तात्) हमारे सामने, सदा, समक्ष (शुक्रं) शुद्ध रूप (उत् चरत्) उदय हुवा हुवा है। उसकी सहायता से हम (शतं शरदः) सौ वर्ष तक (पश्येम) देखें, (शतं शरदः जीवेम) सौ वर्ष तक जीवें, (शतं शरदः शृणुयाम) सौ वर्ष तक सुनें (शतं शरदः प्रब्रवाम) सौ वर्ष तक बोलें, (शतं शरदः अदीनाः स्याम) सौ वर्ष तक अदीन रहें, (शतात् शरदः भूयश्च) सौ वर्ष से अधिक भी देखते सुनते बोलते हुवे अदीन होकर जीते रहें।

❀

❀ ❀

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः

अथर्ववेद ७.५२.८

मेरे दायें हाथ में कर्म, पुरुषार्थ है

और मेरे बायें हाथ में

विजय रखी

हुई

है

फाल्गुन मास

फाल्गुन (कुम्भ)
के लिये
प्राणदायक व्यायाम
पैरों की स्वस्थता तथा नीरोगता
लाने वाला

अपने शरीर को पृथ्वी की तरफ़ मुँह करके इस प्रकार दिगन्त-सम फैलाइये कि हाथों की हथेलियाँ और पैरों के अंगूठे के सिवाय कोई अंग भूमि को न छू रहा हो। अब कोहनी मे हाथों को मोड़ते हुवे यहाँ तक शरीर को नीचे लाइये कि आपकी ठोढ़ी ज़मीन को छूजाय। फिर हाथों को सीधा करते हुवे शरीर को ऊपर उठाइए। ध्यान रखिये कि आपके घुटने भूमि को न छुवें। इसे बार बार कीजिये। जब शरीर को नीचे ले जारहे हों तो गहरा श्वास अन्दर भरिये। जब शरीर को ऊपर उठा रहे हों तो श्वास बाहिर निकालिये।

(२)

इस दूसरी व्यायाम के लिये सीधे खड़े हो जाइये। हथेलियाँ शरीर की ओर रखते हुवे मुट्ठियाँ बांध लीजिए। अब अपने पैरों के अंगूठों के बल होकर अपने शरीर को ऊपर उठाइए, इस अवस्था में अपने हाथ और पैर की मांसपेशिओं को ताने रखिये। फिर शरीर को नीचे ले आइए। इसे बार बार कीजिये। जब आप अंगूठे पर खड़े हों तब श्वास अन्दर भरिये और जब शरीर नीचे ले जावें तो श्वास को बाहर निकालिये और मांसपेशिओं को ढीला कर दीजिये।

ध्यान—इस प्राणायाम में अपना मन पैरों पर एकाग्र कर इन्हें स्वस्थ तथा पूर्ण चित्रित कीजिये।

'मुझ में अद्भुत स्फूर्ति है,मुझ में जीवन प्रवाह बह रहा है……।' इस प्रकार ध्यान कीजिये।

इन अंगों को गौणतया ज्येष्ठ, भाद्रपद और मार्गशीर्ष के व्यायामों से भी लाभ पहुँचता है।

*

* *

अति तृष्टं ववक्षिथ अथैव सुमना असि ।
प्रप्रान्ये यन्ति पर्यन्य आसते येषां सख्ये असि श्रितः ॥

ऋ० ३.९.३॥

विनय

जो प्यासा है, जिसे तेरी सच्ची लगन है, जो तुझे पाने को सचमुच व्याकुल है, अतएव जो तीव्र वैरागी है, उसे तू भी अतिशय प्रेम से वहन करना चाहता है, उसके अभीष्ट को तू प्राप्त करा देता है, उसकी प्यास तू बुझा देता है। अरे, तू तो उसकी प्यास बुझा कर ही संतुष्टमना होता है, 'सुमना' होता है। वैसे तो तूने 'सुमनाः' या 'दुर्मनाः' क्या होना है, परन्तु यदि तू कभी सुमना होता कहा जा सकता है तो अपने इन भक्तों की इच्छा को पूरण करने में तू अवश्य सुमना होता है, अवश्य प्रसन्न होता है। तू तो सदा संसार के अपने इन पुत्रों की, भक्तों की कामनाओं को पूरा कर रहा है और सदा ही सुमना हो रहा है। परन्तु देखना यह है कि हम तेरे

पुत्रों में कितने हैं जो तुझे इस तरह सुमना कर रहे हैं? कितने हैं जिनमें तुझे पाने की सच्ची लगन है? कितने हैं जो सचमुच तेरी कामना कर रहे हैं? ओह! ये सब सांसारिक लोग तो विषय भोगों की ही—केवल विषय भोगों की ही-कामना कर रहे हैं। परन्तु जिनके सख्य में तू विद्यमान है,जो तेरा मिल कर आराधन करते हैं, जो तेरे उपासक हैं उन तेरे सखाओं में भी तेरे ऐसे अनन्य भक्त विरले ही हैं जिनमें तेरे पाने की उत्कट इच्छा है, जो एक मात्र तेरी ही कामना कर रहे हैं। ये धार्मिक लोग अपने संगतों, समाजों में जब कभी तेरी महिमा का हृदयस्पर्शी वर्णन सुनते हैं तो ये भी तेरा अनन्य भजन करना प्रारम्भ कर देते हैं। परन्तु कुछ देर में ही ये ऊब जाते हैं, इनकी सांसारिक वासनायें इन्हें खींचने लगती हैं, सुख वैभव प्रतिष्ठा आदि पाने की दबी हुई कामनायें काम करने लगती हैं और ये उठ कर फिर अपने उन्हीं पुराने रास्ते चल पड़ते हैं। थोड़े ही होते हैं जो भजन में लगे रहते हैं, निरन्तर दीर्घकाल तक श्रद्धापूर्वक तेरी ही भक्ति करते जाते हैं। इस संसार रूपी मेले में तेरा नाम सुन कर तेरा दर्शन करने तो सभी सखा आते हैं, परन्तु एक तो वे भक्त होते हैं जो तुझे मौनमुद्रा में देख कर कुछ देर प्रतीक्षा करके उठ जाते हैं, तुझे प्रणाम करके चले जाते हैं। परन्तु दूसरे वे लोग हैं जो तुझे पहिचान लेते हैं और तुझे घेर कर बैठ जाते हैं, तेरे ध्यान में दृढ़ आसन लगा कर समाहित हो जाते हैं, और तब तक नहीं उठते जब तक तू उनके सब अभीष्टों को पूरा नहीं कर देता, जब तक तू उन्हें निहाल नहीं कर देता।

शब्दार्थ—

(तृष्टं) प्यासे को तू (अति ववक्षिथ) अतिशय वहन करना चाहता है (अथ एव) और तभी (सुमनाः) तू प्रसन्नमना (असि) होता है। (येषां) जिनके (सख्ये) सखिभाव में तू (श्रितः असि) विद्यमान है, उनमें भी (अन्ये) एक हैं जो (प्रप्रयन्ति) अपने अपने रास्ते चले जाते हैं और (अन्ये) दूसरे हैं जो (परि आसते) तुझे घेर कर बैठ जाते हैं, तेरी उपासना में बैठ जाते हैं।

*

* *

मा चिदन्यत् विशंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्थ्या च शंसत॥

ऋ० ८.१.१॥ सा. पू. ३.१.१०॥
सा० उ० ६.१.५॥ अथ० २०.८५.१॥

विनय

भाइओ! उस प्रभु के सिवाय इस संसार में हमारा कोई अन्य स्तुति करने योग्य नहीं है। किसी भी अन्य की स्तुति करने से हमारा कुछ बनेगा नहीं। और हम जो यूं ही दिनभर बोलते रहते हैं, उससे अपनी हानि ही करते हैं। जो वाणी प्रभु सेवा के उद्देश्य से उच्चारण नहीं की जाती, जो परमात्मा को साक्षी रखकर नहीं बोली जाती, जिसका प्रभु से कोई सम्बन्ध नहीं होता—ऐसी सब हमारी वाणी न केवल वृथा है, किन्तु हमारा नाश करनेवाली है। जैसे मेंढक के टर्र टर्र करने का और कुछ परिणाम नहीं होता' सिवाय इसके कि सांप को अपने भक्ष्य का पता मिल जाता है, उसी तरह मनुष्य

अपने निरर्थक और परमेश्वरहीन प्रलापों के करते रहने से काल का ही शीघ्र ग्रास हो जाता है। इसलिये हे मनुष्य जन्म पाने वालो! हे सखाओ! तुम क्यों यूँ ही विनष्ट होते हो, अपने प्रभु के सिवाय अन्यों की स्तुति करके क्यों हिंसित होते हो, स्वार्थ हिंसा रागद्वेष से भरी वाणियां बोल बोलकर क्यों हिंसक बनते हो और फलतः स्वयं विनष्ट होते जाते हो? यदि तुम निरन्तर प्रभु नाम नहीं ले सकते, तो कम से कम चुप रहो। पर किसी अन्य अस्तुत्य की स्तुति तो न करो,ऐसी वाणी तो न बोलो जो तुम्हें प्रभु से हटाकर विनाश की तरफ़ ले जाने वाली हो। इसलिये भाइओ! जागो, आज से एक मात्र उस इन्द्र का ही दिनरात स्तवन करो, सब अभीष्टों को बरसाने वाले सर्वशक्तिमान् केवल उस परमेश्वर का ही स्तुति-कीर्त्तन करो। इस संसार यज्ञ में सम्मिलित हुवे हुवे सब सखा मिलकर उसी परम प्रभु के स्तोत्रों को गुँजाओ, अपने प्रत्येक यज्ञ कर्म में उस इन्द्र का ही तन्मग्न होकर गुण गान गाओ। ज़रा देखो, उस 'वृषण' प्रभु के सिवाय इस संसार में और कौन है जो हम पर सब सुखों और अभीष्टों को बरसा रहा है। हम यूँ ही मूर्खतावश कभी किसी मनुष्य स्वामी व राजा को या किसी अन्य शक्ति को समर्थ समझ कर उस की स्तुति में लग जाते हैं। परन्तु देखो! उस सर्व समर्थ परमेश्वर के सिवाय हमारा और कौन है जो हमें सब कुछ प्रदान कर सकता है। अतः आओ! अब हम सदा उसके ही गीत गावें, और सब कुछ भूल जावें; मस्त होकर उसके ही स्तोत्र बार बार सुनावें, प्रेमाश्रु से गद्गद् होकर उसके ही गीत निरन्तर गाते जावें।

शब्दार्थ—

(अन्यत्) अन्य किसी के स्तोत्रों को (मा चित्) कभी मत (विशंसत) उच्चारण करो, और इस तरह (सखायः) हे सखाओ, मनुष्य भाइओ ! (मा) मत (रिषण्यत) अपने को विनष्ट करो। (सुते) इस संसार यज्ञ में, प्रत्येक यज्ञ कर्म में (सचा) मिलकर, तन्मग्न होकर (वृषणं) अभीष्टों को बरसाने वाले, सर्वशक्तिमान् (इन्द्रं) परमेश्वर की (इत्) ही (स्तोत) स्तुति करो (च) और (मुहुः) बारंबार (उक्थ्या) [उसके ही] भजनों का (शंसत) उच्चारण करो।

❀ ❀
❀

३ फाल्गुन

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि, तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् ।
इदमह मनृतात् सत्य मुपैमि ।।

यजु० १.५।।

विनय

हे अग्ने! तुम व्रतपति हो। मैं तो बहुत से व्रत धारण करता हूँ, पर उन्हें निभा नहीं सकता। एक समय पूरे दृढ़ निश्चय से पूरी गंभीरता से किसी व्रत को ग्रहण करता हूँ, पर पीछे से गिरावट हो जाती है, धीरे धीरे वह व्रत-नियम ढीला होता जाता है और छूट जाता है। इसलिये हे व्रतपते! मैं आज तेरी शरण आया हूँ। आज वह दिन आगया है जब कि मैं तुझ व्रतपति के सामने अटल, अडिग व्रत को धारण कर सकूँगा। हे अग्ने! आज मैं तुझे साक्षी रखकर तेरे प्रताप से ऐसे परिपूर्णतया व्रत को धारण करूँगा कि इस व्रत का आगे कभी भी भंग नहीं हो सकेगा। मैं अन्तःकरण से कहता हूँ कि इस लिये हुवे व्रत को अब मैं प्राणा पण से निबाहूँगा, इस पर अवश्य आचरण करूँगा, इससे रत्ती भर भी इधर उधर विचलित नहीं होऊँगा। हे व्रतपते! मैं जानता हूँ तुम अपने व्रतों के ऐसे परिपूर्ण पति हो कि तुम्हारे व्रत

कभी कहीं किसी के लिये कुछ भी नहीं टल सकते; तुम मेरे व्रत के भी पति हो जाओ, मेरे इस व्रत की भी रक्षा करो, इसके पालक हो जाओ। तुम ऐसी कृपा करो, ऐसी शक्ति प्रदान करो कि मैं इस व्रत को कर सकूँ, इसे पूरा करने में अवश्य समर्थ हो सकूँ। मेरा यह व्रत संसिद्ध होवे, अवश्य पूर्ण होवे। मैं आज अन्य बातों को छोड़कर सत्य के ही महान् व्रत को ग्रहण करता हूँ। यदि मैं इस सत्य के व्रत का पालन कर सकूँगा, तो अन्य सब व्रतों को पाल सकना मेरे लिये कुछ भी कठिन नहीं रहेगा। तो यह लो, हे अग्ने! मैं आज से अनृत को छोड़कर सत्य को ग्रहण करता हूँ; हे प्रकाशस्वरूप! मैं अनृत से सत्य को प्राप्त हो जाता हूँ। मैं आज से, मन वाणी और कर्म से सत्य का ही पालन करूँगा। मैं सत्य को जानूँगा और सत्य को ही प्रकट करूँगा। मेरे अन्दर हृदय में जो कुछ होगा उसे ही वाणी में लाऊँगा और उसे ही अपनी क्रिया द्वारा प्रकट करूँगा। मैं जानता हूँ कि यह कठिन है, परन्तु हे अग्ने! तेरी सहायता से इस संसार में कुछ भी कठिन नहीं है, कुछ भी असम्भव नहीं है। इसलिये हे व्रतपते! लो मैं तो आज से सत्यव्रती हो गया हूँ, आज से 'सत्य' का हो गया हूँ।

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे अग्ने! (व्रतपते) हे व्रत के पालक! मैं (व्रतं) व्रत का (चरिष्यामि) आचरण करूँगा, पालूँगा। ऐसी कृपा करो कि (तत्) उस व्रत को मैं (शकेयं) पूरा कर सकूँ, (मे) मेरा (तत्) वह व्रत (राध्यतां) सिद्ध होवे, पूरा होवे। लो (अहं) मैं (इदं) यह, आज से (अनृतात्) अनृत से हट कर (सत्यं) सत्य को, सत्य के व्रत को (उपैमि) प्राप्त होता हूँ, लेता हूँ।

त्वं विश्वस्य धनदा असि श्रुतो य ईं भवन्त्याजयः ।
तवायं विश्वः पुरुहूत पार्थिवो अवस्यु र्नाम भिक्षते ॥

ऋ० ७.३२.१७॥

विनय

इस सब जहान को धन देने वाले अकेले तुम ही हो। इस विश्व में जिस किसी को जिस किसी प्रकार का ऐश्वर्य मिल रहा है वह तुम ही से मिल रहा है। तुम ऐश्वर्य देने वाले प्रसिद्ध हो। तुम इन्द्र हो, परम ऐश्वर्य वाले हो। इस संसार में नाना प्रकार के ऐश्वर्यों को पाने के लिये जो ये विविध संघर्ष होते रहते हैं, देवासुर संग्राम चलते रहते हैं उनमें विजेता होकर जो लोग ऐश्वर्यों को प्राप्त कर रहे हैं वे तेरे ही दिये ऐश्वर्यों को प्राप्त कर रहे हैं। हम सदा से सुनते आये हैं कि धन ऐश्वर्यों को जिताने वाले तुम ही हो। तो तुम

क्यों नहीं देखते कि इस पृथ्वी पर इस समय कैसी तबाही मची हुई है, महान् विनाश उपस्थित हो रहा है ? सब धर्म की मर्यादायें टूट गयी हैं, सब क्रम बिगड़ गये हैं। यह संसार तुम्हारे ऐश्वर्य से सर्वथा रहित हो गया है। पृथ्वी पर एक ऐसा संग्राम चल रहा है कि सब लोग दुःखी निर्बल होगये हैं, सब ऐश्वर्य से हीन हो गये हैं। संत्रस्त हुवे ये सब लोग अब तुम्हें याद कर रहे हैं, हे पुरुहूत ! बार बार तुम्हें पुकार रहे हैं। हे इन्द्र ! तुम कब इस पृथिवी को सुखी करोगे, कब इस संग्राम में विजयी कराकर अपना ऐश्वर्य प्रदान करोगे ? देखो, ये सब के सब पृथिवीवासी तुम्हारे रक्षण की भिक्षा मांग रहे हैं, सब मनुष्य रक्षा चाहते हुवे तुम्हारा नाम पुकार रहे हैं।

शब्दार्थ—

(त्वं) तुम (विश्वस्य) सब संसार के (धनदाः) धन, ऐश्वर्य देनेवाले (श्रुतः) प्रसिद्ध (असि) हो, (ये) जो (ई) ये [संसार में] (आजयः) संग्राम (भवन्ति) होते हैं उनमें धन जितानेवाले तुम ही हो। देखो, (अयं) यह (विश्वः) सब (पार्थिवः) पृथिवी लोक (पुरुहूत) हे बहुत पुकारे गये! (अवस्युः) रक्षा चाहता हुवा (तव) तेरे (नाम) नाम की, प्रसिद्ध रक्षण की (भिक्षते) भिक्षा मांग रहा है।

❀

❀ ❀

५ फाल्गुन

ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः ।
तेषां वः सुम्ने सुच्छर्दिष्टमे नरः स्याम ये च सूरयः ॥

ऋ० ७.६६.१३॥

विनय

हे आदित्यो ! हम अब तुम्हारे 'सुम्न' में रहना चाहते हैं, तुम्हारे सुख व ऐश्वर्य में बसना चाहते हैं। अभी तक हम तुम्हारी महिमा नहीं जानते थे, तुमने जो अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण करके दिव्य प्रकाश प्राप्त किया है और आदित्य बने हो—उसका सामर्थ्य नहीं समझते थे। तुम तो इस संसार के 'नर' हो, नेतृत्व करनेवाले हो। तुम संसार-नेता यदि हमें अपनी शरण प्रदान करोगे तो हम अवश्य कृतकृत्य हो जायेंगे। परन्तु हम तुम्हारी इस सर्व श्रेष्ठ सुखमय शरण को तभी प्राप्त कर सकेंगे जब हम सत्यसेवी हो जायेंगे। हम जानते हैं कि तुम कितने भारी 'ऋत' के उपासक हो और कितने घोर 'अनृत' के विरोधी हो। तुमने जो इतना ऊँचा पद प्राप्त किया है उसका रहस्य यही है कि तुमने अनन्य भाव से सत्य का सेवन किया है। जब कोई मनुष्य सत्य का आराधन शुरू करता है तो उसे सब से पहिले यज्ञ के, त्याग के

महान् सत्यसिद्धान्त का प्रकाश हो जाता है, इसीलिये 'ऋत' शब्द यज्ञ का भी वाचक होगया है। तुम न केवल सत्य व यज्ञ से पूर्णतया युक्त हो, 'ऋतावान्' हो किन्तु तुम तो 'ऋत-जात' भी हो, तुम ऋत से उत्पन्न हुवे हो, तुमने अपने आप को बिलकुल बदल कर सत्य में अपना दूसरा जन्म प्राप्त किया है, तुम्हारा अणु अणु सत्य का बना हुवा है, यज्ञभावना से भावित हुवा हुवा है। और अब तुम्हारा जीवन सत्य के ही बढ़ाने में लगा हुवा है। तुम 'ऋतावृध्' हो। अनृत को हटाकर निरन्तर सत्य की वृद्धि कर रहे हो। इसीलिये तुम अनृत के घोर शत्रु हो। अनृत के साथ तुम्हारा सहज वैर है। जहां तुम हो वहां अनृत नहीं ठहर सकता। तुम अनृत की छाया तक को नहीं सहन कर सकते। इसलिये हे नरो! हम भी अब सत्यसेवी होकर ही तुम्हारे 'सुम्न' को प्राप्त करना चाहते हैं, तुम्हारे सर्वश्रेष्ठ शरणतम सुख को प्राप्त करना चाहते हैं। हम ही नहीं किन्तु हमारी तरह और भी जो कोई तुम्हारी इस महिमा को जानते हैं, जो 'सूरि' व ज्ञानी हुवे हैं उन सब को, हे आदित्यो! उन सब को तुम अपना सुख प्राप्त कराओ, सर्व श्रेष्ठ शरण देनेवाला अपना महान् सुख प्राप्त कराओ।

शब्दार्थ—

(नरः) हे संसार के नेताओ! आदित्यो! जो तुम (ऋतावानः) सत्य व यज्ञ से युक्त (ऋतजाताः) सत्य में जन्मे हुवे (ऋतावृधः) सत्य को बढ़ानेवाले और (घोरासः) घोर (अनृतद्विषः) असत्य-विरोधी हो (तेषां) उन (वः) तुम्हारे (सुछर्दिष्टमे) उत्तम सर्व श्रेष्ठ शरण देनेवाले (सुम्ने) सुख व ऐश्वर्य में (स्याम) हम होवें; (ये च) तथा जो अन्य (सूरयः) ज्ञानी हैं वे भी होवें।

६ फाल्गुन

द्यामिन्द्रो हरिधायसं पृथिवीं हरिवर्पसम् ।
अधारयद् हरितोर्भूरि भोजनं ययोरन्तः हरिश्चरत् ॥

ऋ० ३.४४.३॥

विनय

ये इन्द्र, ये परमेश्वर 'हरि' हैं, पाप ताप को हरण करने वाले हैं। इसीलिये इन इन्द्र-सूर्य की असंख्यों रश्मियां 'हरि' कहलाती हैं, ये भी अज्ञान अन्धकार मलिनता और रोग का हरण करती हैं। और इसीलिये इन इन्द्र की दो प्रसिद्ध शक्तिओं का नाम भी 'हरि' हुवा है, इन्हें ऋक् और साम कहो, वाणी और प्राण कहो, ज्ञान और बल कहो। इन हरिओं सहित वे हरि इस संसार के अणु अणु में, रोम रोम में रम रहे हैं और इस संसार को हरिमय कर रहे हैं। तभी तो वह द्यौः 'हरिधायस्' हुवा है, यह पृथिवी 'हरिवर्पस्' हुई है और द्यावा पृथिवी 'हरित्' बने हैं। वह 'द्यौः' हरि की उन असंख्यातों हरि रश्मिओं से भरपूर है, उन ही द्वारा धारित हुवा हुवा है। यह पृथिवी भी उन्हीं हरि-रश्मिओं से ढकी हुई है, उसके हरित्व से रँगी हुई हरिवर्णा हो रही है।

और ये द्यावापृथिवी हरित्, हरिमय बन गये हैं। इस प्रकार इन इन्द्र ने हरि होकर द्यौ और पृथिवी को धारण कर रखा है। उसने इस द्यावापृथिवी को न केवल धारण कर रखा है किन्तु वह इसका लगातार पोषण भी कर रहा है। वह इन हरितों (द्यावापृथिवी) में प्रभूत भोजन, बहुत बहुत भोग सामिग्री, सब चराचर प्राणिओं के लिये अनगिनत प्रकार के भोग उत्पन्न करके उनका निरन्तर पालन पोषण भी कर रहा है। उसने द्यावा पृथिवी को ही नहीं, किन्तु इसके लिये अमित भोजन को भी धारण कर रखा है। इस धारण पोषण के लिये वह हरि इनके अन्दर गया हुवा है, इन द्यावा पृथिवी का अन्तर्यामी होकर विचर रहा है, प्रत्येक प्राणी व पदार्थ के अन्दर प्राण होकर उसे अन्दर से गति दे रहा है। वह हरि चूँकि इस प्रकार अपनी हरि शक्तिओं सहित इन द्यावापृथिवी का अन्तश्चारी हो रहा है, यही कारण है जिससे ये द्यावा पृथिवी 'हरित्' हो गये हैं। ओ! देखो, यह सब संसार कैसा हरिमय हो रहा है, हमारे 'हरि' प्रभु के रमने के कारण कैसा हरिमय हो रहा है!

शब्दार्थ—

(इन्द्रः) परमेश्वर (हरिधायसं द्यां) अपनी 'हरि' रश्मिओं से धारित हुवे हुवे द्युलोक को तथा (हरिवर्पसं पृथिवीं) हरित्व से रंगी हुई, हरिवर्णा भूमि को (अधारयत्) धारे हुवे है, और वह उन (हरितोः) हरित्, हरिमय हुवे हुवे [द्यावा पृथिवी] के (भूरि) बहुत, अगणित (भोजनं) भोग सामिग्री को भी धारे हुवे है, (ययोः) जिन [हरितों, द्यावा पृथिवी] के (अन्तः) अन्तर्यामी होकर (हरिः) वह हरि प्रभु (चरत्) चल रहा है; चरण कर रहा है।

७ फाल्गुन

नहि ते शूर राधसो अन्तं विन्दामि सत्रा ।
दशस्या नो मघवन् नू चिद्, अद्रिवो धियो वाजेभि राविथ ॥

ऋ० ८.४६.११॥

विनय

ओह ! तेरे राधसों का कुछ भी अन्त नहीं है । तेरे सफलता प्राप्त कराने वाले ऐश्वर्य, तेरे सिद्धि दिलाने वाले सामर्थ्य एक से एक बढ़ कर हैं । इस संसार के जो नानाविध भौतिक धन हैं, जो विज्ञान के चमत्कारी ऐश्वर्य हैं, हमारे लिये तो वे ही अनगिनत हैं । अग्नि आदि एक ही तेरा देव जितने हमारे प्रयोजन संसिद्ध कर सकता है उन्हीं का हम पार नहीं पा सकते । परन्तु जब मनुष्य ऊँची भूमिओं को प्राप्त करता है तो जो दिव्य सिद्धिओं के ऐश्वर्य का भंडार उसके लिये खुल जाता है, वह तो बस अनन्त है, अद्भुत है, अपार है; उसके विषय में और कुछ नहीं कहा जा सकता । सचमुच, हे शूर ! तू अपने जिन चित्र विचित्र राधसों को बरसाता हुवा संसार के छोटे बड़े पुरुषों को उनके अपने अपने अनन्तों क्षेत्रों में विजय दिला रहा है और संसार को अग्रसर कर रहा है—उनका पार हम क्षुद्र मनुष्य कहां पा सकते हैं !

हे मघवन्! तू हमें भी हमारे योग्य ऐश्वर्यों को प्रदान कर, अवश्य अवश्य प्रदान कर। पर नहीं, हे इन्द्र! हम तुझ से ऐश्वर्य क्यों मांगें? ऐश्वर्यों की तो तू बिना मांगे हम पर अनन्त वर्षा कर रहा है। तू तो हमारी धियों को ठीक कर, जिनके ठीक न होने के कारण ही हम इस ऐश्वर्य वर्षा में रहते हुवे भी तेरे ऐश्वर्यों को नहीं प्राप्त कर रहे हैं। तेरे ऐश्वर्यों को हम अपनी धियों, बुद्धिओं तथा कर्मों, द्वारा ही ग्रहण कर सकते हैं। परन्तु हमारे ये ज्ञान और कर्म बिगड़े हुवे हैं, बड़े अरक्षित हुवे हुवे हैं। काम क्रोध आदि प्रबल शत्रुओं के लगातार आक्रमणों के कारण हमारी बुद्धियां ही ठीक प्रकार से नहीं सोच सकती हैं और हमारे कर्म ठीक नहीं होते हैं, इसीलिये हम तेरे ऐश्वर्यों से वंचित रहते हैं। हे वज्रवाले! तू हमारी इन आक्रमणों से रक्षा कर। तू अपने वाजों द्वारा, अपने ज्ञानों और बलों द्वारा हमारी बुद्धिओं और कृतिओं की रक्षा कर। हम तो तुझ से यही मांगते हैं, हे अनन्त ऐश्वर्य वाले! हम तुझ से यही चाहते हैं।

शब्दार्थ—

(शूर) हे शूर! (सत्रा) सचमुच ही (ते) तेरे (राधसः) ऐश्वर्यों का (अन्तं) अन्त (नहि) मैं नहीं (विन्दामि) पाता हूँ। (मघवन्) हे ऐश्वर्य वाले! (नः) हमें (नूचित्) अवश्य ही तू (दशस्य) [ऐश्वर्य] प्रदान कर, (वाजेभिः) ज्ञानों और बलों द्वारा (धियः) हमारी बुद्धिओं व कर्मों की (अद्रिवः) हे वज्रवाले! (आविथ) रक्षा कर।

❀

❀ ❀

अभ्यूर्णोति यन्नग्नं भिषक्ति विश्वं यत् तुरम्।
प्रेमन्धः ख्यत्, निः श्रोणो भूत् ॥

ऋ० ८.७९.२॥

विनय

उस परमदेव की महिमा के स्तुति गीत मैं कहां तक गाऊँ? उस परम दयालु की दयालुता का वर्णन करने के लिये मैं वाणी कहां से लाऊँ? वे सोमप्रभु तो इस दुर्बल दुनिया पर जो प्रतिक्षण अनन्तों उपकार कर रहे हैं, इस दुःखी संसार पर जो हर समय अपनी करुणा बरसा रहे हैं उसका जब मैं ध्यान करता हूँ तो मेरा हृदय भर आता है, मेरा कण्ठ रुद्ध हो जाता है। उस प्रेमसागर की प्रेम कहानी कहने की चीज़ नहीं है। वह तो अनुभव करने की, स्वयं अनुभव करने की वस्तु है। अरे, मैं तो साक्षात् देख रहा हूँ कि वह दयामय पिता होकर जो कोई नंगा है उसे ढक रहा है और वैद्य बन कर जो कोई रोगग्रस्त हैं उन सब को भला

चंगा कर रहा है। यह बात केवल भौतिक अर्थ में ही नहीं है। वह प्रेममय सोम तो जिसको जिस गुण से नग्न देखता है उसे वह गुण देकर, उसी गुण-वस्त्र द्वारा उसे आच्छादित कर रहा है और यह सारा संसार जो अपनी अपनी व्याधि से आतुर हुआ पड़ा है वह करुणापरायण उन सब की चिकित्सा कर रहा है और उन सब को ही उल्लाघ (नीरोग) कर रहा है। और क्या कहूँ, उस सोम की कृपा होती है तो अन्धा भी देखने लगता है और पंगु भी चल निकलता है। एक क्षण में अज्ञानी ज्ञानप्रकाश पा जाता है और असमर्थ शक्तिपूर्ण हो जाता है। हमारे लिये ये बातें बेशक बड़े चमत्कार की हैं, पर ये इसीलिये हैं चूँकि हम अल्पज्ञानी जीव उस सोम की महान् विभूतिओं को नहीं समझ सकते। सचमुच ही, उस सोम की करुणा का कभी वाणी से बर्णन नहीं हो सकता, और कोई 'असंभव' नहीं जो उसकी कृपा से संभव नहीं हो सकता।

शब्दार्थ—

(यत्) जो (नग्नं) नग्न है उसे (सोम प्रभु) (अभ्यूर्णोति) ढक देता है, आच्छादित कर देता है, और (यत्) जो (तुरं) आतुर, रुग्ण है (विश्वं) उस सब की, सब संसार की वह (भिषक्ति) चिकित्सा कर देता है। उसकी कृपा से (अन्धः ईं) अन्धा भी (प्र ख्यत्) देखने लगता है और (श्रोणः) लूला भी (निर्भूत्) चल निकलता है।

*

* *

सुशेवो नो मृडयाकुःअदृप्तक्रतुः अवातः।
भवा नः सोम शं हृदे ॥

ऋ० ८.७९.७॥

विनय

हे सोम ! निःसन्देह तुम हमारे हृदयों में समाये हुवे हो। हम जानते हैं कि तुम्हारे रस, सोमरस, का पान इन हमारे हृदयों द्वारा ही होता है। तो फिर हमारे हृदयों में बसते हुवे भी, हे सोम ! तुम हमें शान्त और सुखी क्यों नहीं करते, हमें अपना रसपान करा कर सरस और सुखमय क्यों नहीं बनाते ? आओ, अब हमारे हृदयों के लिये तुम उत्तम-सुख-वाले हो जाओ, सुखप्रदाता हो जाओ। हमें सुखी करो, अपने उत्तम सुख से सुखी करो। अपने सुख से, अपने उत्तम सुख से हमें ऐसा भरपूर कर दो कि दुनियां के सब बुरे सुख, परिणाम में विषरूप होने वाले सब विषय आदि के सुख हमारे लिये स्वयमेव त्याज्य हो जावें, सदा के लिये परि-त्यक्त हो जावें। यदि तुम हमारे ऐसे सु-सुखयिता हो जाओगे

तो तुम हमारे लिये 'अदृप्तक्रतु' और 'अवात' भी हो जाओगे। तो तुम्हारी कृपा से हम अभिमानरहित ज्ञान व कर्म वाले तथा अचलायमान हो जायेंगे। हम जो ज्ञान का अभिमान करने वाले, बड़े अभिमान से कर्म करने वाले, अपने अभिमान की क्षुद्रता में उछलने कूदने वाले होते हैं तथा उद्विग्न और चंचलचित्त होते हैं वह इसीलिये होते हैं क्योंकि हम अनुभव नहीं करते कि तुम अपने सोम रूप से हमारे हृदयों में समाये हुवे हो, क्योंकि तुम्हें हृदय में रखते हुवे भी हम तुम्हारे सोमरस से इस तरह सर्वथा वंचित रहते हैं। जिन धन्य पुरुषों के हृदयों को तुम अपने रस से परिपूर्ण करते हो वे तो सर्वथा निरहंकार और शान्त होते हैं, वे महान् ज्ञान और कर्म की शक्ति रखते हुवे भी बिलकुल निरभिमान और नम्र होते हैं, गंभीर और प्रशान्त होते हैं। इसीलिये हे सोम ! हम तुम से प्रार्थना करते हैं कि तुम हमारे हृदयों के लिये कल्याणकारी होओ, अपनी परम सरसता और शीतलता प्रदान करते हुवे हमारे हृदयों के लिये सुखकारी होओ।

शब्दार्थ—

(सोम) हे सोम ! तुम (नः) हमारे लिये (सुशेवः) उत्तम सुख वाले (मृडयाकुः) सुख प्रदाता होओ, (अदृप्तक्रतुः) अभिमान-रहित ज्ञान और कर्म वाले और (अवातः) अचलायमान शान्त होओ, (नः) हमारे (हृदे) हृदय के लिये (शं) कल्याणकारी, सुखकारी (भव) होओ।

❀

❀ ❀

न ह्यन्यं बळाऽकरं मर्डितारं शतक्रतो ।
त्वं न इन्द्र मृडय ॥

ऋ० ८.८०.१॥

विनय

सचमुच तेरे सिवाय, हे शतक्रतो ! इस संसार में और कोई सुखयिता नहीं है । इन भोग्य विषयों को, जिनके सुख पाने को यह संसार मरा जाता है, मैंने खूब जांचा है, खूब परखा है, परन्तु हे इन्द्र ! मैंने देखा है कि इनमें तो सुख का लेश भी नहीं है । स्वजनों का प्रेम, धन वैभव, मान प्रतिष्ठा आदि को सुखदाता प्रायः सभी अनुभव करते हैं परन्तु हे इन्द्र ! मैंने देखा है कि उनमें भी कोई सुख नहीं है, जो कुछ इनमें उपलब्ध होता है वह भी इनका अपना नहीं है । मैं तो देखता हूँ कि तेज भूख में रूखा सूखा खा लेने से जो स्वाभाविक सुख होता है या गुरुचरणों के स्पर्श करने से जो सात्विक सुख मिलता है उसका भी कारण वह भोजन व गुरुचरण नहीं हैं, किन्तु तू है, हे शतक्रतो ! केवल तू है । तो फिर मुझ

जैसा पुरुष सुख पाने के लिये अब इस संसार में दर दर मारा क्यों फिरेगा ? जिसने देख लिया है कि यह सब संसार जिस के जूठन और आंशिक सुख को भोग रहा है वह असली सुख भंडार तू है वह पुरुष सुख पाने के लिये अब और कहां जावेगा ? इसलिये मैंने तो सुखयिता तुझ ही कर लिया है। तेरे सिवाय मेरे लिये इस संसार में और कोई सुख दे सकने वाला नहीं रहा है। ये सांसारिक विषय बेशक अपना सुखद रूप धारण करके, बड़े मनोमोहक हृदय हारी रूप धारण करके, मेरे भी इर्द गिर्द घूमते हैं, पर मैं इनके दुःखरूप नाम-सुख को लेकर क्या करूँगा ? मैं इनकी तरफ़ दृष्टिपात तक नहीं करता। इसी तरह धन मान आदि भी अपने मलिन सुखों का प्रस्ताव मेरे सामने रखते हैं, पर मैं इन्हें अस्वीकृत करने के सिवाय और क्या करूँ ? मुझे तो अब जिस सुख की प्यास है वह तेरा सुख है, सीधा तुझसे मिलनेवाला विशुद्ध सुख है। मुझे दूसरे, तीसरे, और हजारवें हाथों से आया तेरा सुख भी नहीं चाहिये। मुझ चातक की प्यास तो अब ऊपर तुझसे आने वाले तेरे निर्मल दिव्य सुख से ही मिट सकती है। इसलिये हे इन्द्र! तू अब मुझे अपना सुख प्रदान कर, स्वयं अपना सुख प्रदान कर।

शब्दार्थ—

(शतक्रतो) हे शतयज्ञ! (अन्यं) तुझसे अन्य किसी (मर्डितारं) सुखयिता को (वळा) सचमुच ही मैं (नहि अकरं) नहीं करता हूँ, अतः (इन्द्र) हे परमेश्वर! (त्वं) तू (नः) हमें (मृडय) सुखी कर।

*

* *

योनः शश्वत् पुराविथ, अमृध्रो वाजसातये ।
स त्वं न इन्द्र मृडय ।

ऋ० ८.८०.२॥

विनय

हे इन्द्र ! तू वह है जो सर्वथा अहिंसक है, इतना प्रेम-मय और सर्वसमर्थ है कि तुझे कभी हिंसा करने की जरूरत नहीं होती, और अहिंसक होने से ही तू सर्वथा अहिंसित भी है, तेरा कभी विनाश नहीं किया जा सकता। और हे इन्द्र ! तू वह है जो ऐसा अहिंसक होकर, ऐसा प्रेममय होकर पहिले से सदैव ही हमारी रक्षा करता आया है; जब जब कठिन समय आया है, जब जब दुनियां के सब बलों को हार कर भग्नाभिमान निर्बल होकर हमने तुझे पुकारा है तब तब

तू ने हमारी रक्षा की है और हमें बललाभ कराया है। सदा नये नये बललाभ के लिये तू हमारी रक्षा करता आया है। हे इन्द्र ! हे वही हमारे इन्द्र ! तू इस समय भी हमारी रक्षा कर और हमें सुखी कर। इस समय चारों तरफ़ निराशा ही निराशा छा रही है, पाप की शक्तिओं ने हमें चारों तरफ़ से दबा लिया है, हमारा कुछ बस नहीं चलता है। हे इन्द्र ! इस समय तू ही हमें बचा, तू ही हमारा उद्धार कर। हमें नया बल प्राप्त कराता हुवा फिर सुखी कर। हे सदा से हमारे बचाने वाले ! अमृध्र ! हमें सुखी कर, फिर सुखी कर।

शब्दार्थ —

(इन्द्र) हे इन्द्र ! (यः) जिस (अमृध्रः) अहिंसक एवं अहिंसनीय तू ने (नः) हमारी (पुरा) पहिले (शश्वत्) सदा (वाजसातये) बलप्राप्ति के लिये (आविथ) रक्षा की है (सः त्वं) वही तू (नः) हमें (मृडय) सुखी कर।

*

* *

इन्द्र प्र णो रथं अव, पश्चाच्चित् सन्त मद्रिवः ।
पुरस्तात् एनं मे कृधि ॥

ऋ० ८.८०.४॥

विनय

हे इन्द्र ! तुम मेरे रथ की रक्षा करो, मेरे पिछड़े हुवे जीवनरथ की भी रक्षा करो; बल्कि यह मेरा रथ पिछड़ा हुवा है इसलिये हे वज्र वाले ! इसकी तुम विशेषतया प्रकृष्टतया रक्षा करो । मैं देख रहा हूँ कि बहुत से मेरे साथी आगे निकल गये हैं, मेरे देखते देखते अपने जीवनों को उन्नत बनाकर मुझ से बहुत आगे बढ़ गये हैं । कोई धृति आदि धार्मिक गुणों को अपने जीवन में धारण कर उन्नत हो गया है, कोई 'अभय' आदि दैवी संपत् के कारण आगे बढ़ गया है, कोई कठोर 'तपस्या' की शक्ति से विशेष वेगवान् होकर मुझ से आगे निकल गया है, तो कोई विवेक वैराग्य आदि साधन-

चतुष्टय की साधना द्वारा मुझ से बहुत ही आगे हो गया है, तथा कोई महान् आत्मा आत्मिक शक्तिओं के दिव्य घोड़े पाकर एकदम हम सब का अतिक्रमण करके अग्रणी बन गया है। ये देखो, कर्मशूर कर्मयोगिओं के एक से एक बढ़ कर रमणीय रथ ज्ञानिओं योगिओं के एक से एक तेजस्वी रथ तथा भक्तों महात्माओं के एक से एक दिव्य-रथ मुझे पीछे छोड़ कर आगे निकलते चले जा रहे हैं; पीछे से आकर भी 'तीव्र संवेग' के कारण मुझ से आगे निकलते चले जा रहे हैं। तो, हे परमेश्वर ! मैं ही कब तक इस तरह पीछे रहता जाऊँगा ? अपनी इस मन्दगति से घिसटता हुवा चलूँगा ? तुम्हीं मुझे इस तरह निरन्तर पिछड़ने से बचाओ, इस सतत अवनति से मेरी रक्षा करो। नहीं नहीं, तुम केवल मुझे इस अवनति से ही नहीं बचाओ किन्तु मेरी उन्नति करो, निरन्तर प्रगति करो। मेरे इस जीवन-रथ को आगे बढ़ाओ, इसमें अपना इन्द्रबल भर कर इसे अन्य रथों से भी आगे बढ़ाओ।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे इन्द्र ! (अद्रिवः) हे वज्रवाले ! (नः) हमारे (पश्चात् चित् सन्तं) पीछे भी होते हुवे, पिछड़ते भी हुवे (रथं) रथ को (प्र अव) प्रकृष्टतया रक्षा करो। (मे) मेरे (एनं) इस रथ को (पुरस्तात्) आगे, आगे बढ़ा हुवा (कृधि) कर दो।

* * *

हन्तो नु किमाससे प्रथमं नो रथं कृधि।
उपमं वाजयु श्रवः॥

ऋ० ८.८०.५॥

विनय

तो फिर, हे इन्द्र! अब क्या देर है? तुम अब क्यों बैठे हो? उठो, आज्ञा करो, कृपा करो, मेरे रथ को सब से आगे करदो, प्रथम स्थान पर पहुँचा दो। हां, सचमुच मैं सर्वश्रेष्ठ मनुष्य बनूँगा, सर्व प्रथम बनूँगा। मैं राम की तरह मर्यादा पुरुषोत्तम होऊँगा, मैं कृष्ण की तरह पूर्णपुरुष बनूँगा, मैं जीवन की दौड़ में सर्व प्रथम रहूँगा। मेरी यह महत्वाकांक्षा स्वाभाविक है। हरेक मनुष्य पूर्ण होने के लिये उत्पन्न हुवा है। जो कार्य कोई भी एक मनुष्य कर चुका है वह मैं भी अवश्य कर सकता हूँ। मुझमें भी बिलकुल वैसा ही आत्मा विद्यमान है जैसा कि राम में था, जैसा कृष्ण में था या जैसा किसी भी महापुरुष में था। तो फिर मेरे उन

होने में क्या रुकावट हो सकती है ? और सर्वश्रेष्ठ बनाने का जो साधन है वह सब तुम्हारे पास विद्यमान है, मेरे लिये 'वाज' को चाहता हुवा 'श्रवः' तुम्हारे पास उपस्थित है। तुम यदि चाहो तो अपने 'श्रवस्' द्वारा, ऐश्वर्य द्वारा मेरे जीवन में 'वाज', बल और ज्ञान प्रदान करके मुझे अधिक से अधिक उन्नत कर सकते हो। तो फिर हे इन्द्र ! अब तुम उठो, मुझमें उठो, जागो; यदि तुम मुझमें उठोगे तो मुझ में वहां तक वाज, वहां तक ज्ञान व बल, प्रकट होता जावेगा जहां तक कि सर्वश्रेष्ठ पुरुष होने के लिये आवश्यक है। अतः अब तुम क्यों बैठे हो ? अपने ऐश्वर्य द्वारा वाज देकर मेरे जीवन को सर्वोच्च बनादो, मेरे जीवन रथ को सर्व प्रथम स्थान पर लाकर स्थापित करदो।

शब्दार्थ—

(हन्तो) तो फिर (इन्द्र) हे इन्द्र! तुम (नु) अब (किं) क्यों (आससे) बैठे हो ? (नः) हमारे (रथं) रथ को (प्रथमं) सब से आगे, प्रथम स्थान पर (कृधि) करदो। (वाजयु) वाज (बल ज्ञान (चाहता हुवा (श्रवः) ऐश्वर्य तो (उपमं) तुम्हारे पास [विद्यमान ही है]।

❀

❀ ❀

अवा नो वाजयुं रथं सुकरं ते किमित् परि ।
अस्मत् सु जिग्युषः कृधि ।।

ऋ० ८.८०.६।।

विनय

ये देखो, हे इन्द्र ! हमारा रथ, हमारा जीवन तुम्हारे 'वाज' को चाह रहा है, आगे बढ़ने के लिये तुम से ज्ञान सामर्थ्य और बल मांग रहा है। जितना वाज इसे तुमसे प्राप्त होगा उतना ही यह रथ आगे आगे बढ़ सकेगा। इस लिये मेरे इस 'वाजयु' रथ को अपना ज्ञान और बल देकर इसकी तुम रक्षा करो, तृप्ति करो, पूर्णता करो। अरे, मैंने तो जीवन की दौड़ में सर्व प्रथम होना है, विजय पर विजय प्राप्त करके जीवन के लक्ष्य को पूर्ण करना है। इसलिये हे इन्द्र ! तू मेरे इस वाजयु रथ को अपने वाज से इतना पूर्णतया भरपूर

कर दे कि मेरा जीवन पूर्ण जीवन हो जावे, मेरा रथ सब का अग्रणी हो जावे। हे इन्द्र! तेरे लिये सब कुछ संभव है। तू कुछ भी कर सकता है और बड़ी सुगमता से कर सकता है। तेरे लिये कुछ भी करना सर्वथा सुकर है। तो, हे इन्द्र! तू मुझे सचमुच सर्व प्रथम करदे। तू हमें उत्तम विजेता बना दे। तू हमें ऐसा श्रेष्ठ विजेता बना दे कि हम मार्ग की सब बाधाओं को विजय करते हुवे, जीवननाशिनी आसुरी शक्तिओं पर एक से एक महिमाशालिनी विजय प्राप्त करते हुवे अपनी यात्रा को सफल कर लेवें, जीवन की पूर्णता को प्राप्त कर लेवें।

शब्दार्थ—

(नः) हमारे (वाजयुं) वाज, ज्ञानसामर्थ्य और बल, चाहते हुवे (रथं) जीवन रथ की (अव) रक्षा करो, तृप्ति करो। (ते) तेरे लिये (किं इत्) कुछ भी, सब कुछ (परि) सब तरह, सर्वथा (सुकरं) सुकर है। (अस्मत्) हमें (सु जिग्युषः) उत्तम विजयी, श्रेष्ठ विजेता (कृधि) करदो।

*

* *

१५ फाल्गुन

त्रिधा हि त्वा तुविकूर्मिं तुविदेष्णं तुवीमघम् ।
तुविमात्रं अवोभिः ॥

ऋ० ८.८१.२॥ सा० उ० १.२.६॥

विनव

ओह, हमने जाना, हमने समझा कि तू कितना कितना कृपालु है, तू किस तरह हम पर अनवरत दया की वर्षा कर रहा है। तेरी रक्षायें, तेरी तृप्तियां, तेरी दीप्तियां, तेरी वृद्धियां, तेरी सब प्रकार की कृपायें, तेरे सब प्रकार के 'अवस्' हमें प्रतिक्षण अनगिनत प्रकार से प्राप्त हो रहे हैं। ओह, तू तो हम पर अपनी दया बरसाने के लिये ही 'तुविकूर्मि' हुवा है, बहुत प्रकार के कर्म करने वाला अनन्त-कर्मा हुवा है। अपने लिये तो तुझे तीनों कालों में तीनों लोकों में कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है, फिर भी जो तू अपने इन अनन्तों ब्रह्माण्डों में अपना अखण्ड महान् कर्म प्रतिक्षण चला रहा है वह हम जीवों के कल्याण के लिये, हम जीवों के प्रेम वश होकर ही कर रहा है। हम पर कृपालु होकर ही तू 'तुविदेष्ण' बहुत बहुत देने वाला, प्रतिक्षण सबको लगातार यथायोग्य देने वाला हो रहा है। मनुष्य जब तेरे दानों को अनुभव करने

लगता है तो वह देखता है कि तूने सदा हमको देना ही देना है और तेरे इन देने का कहीं अन्त नहीं है। इसी तरह तू हमारे लिये, केवल हमारे लिये, 'तुविमघ' भी हुआ है, बहुत बहुत ऐश्वर्य वाला ऐश्वर्य-भंडार बना है। स्वयं तो तू परिपूर्ण आप्त-काम है, तुझ कभी त्रिकाल में भी किसी भोग की आवश्यकता नहीं है, तो भी जो तू इस संसार में हर समय भोगों को उत्पन्न कर रहा है और उनका दान कर रहा है वह हम जीवों की तृप्ति के लिये हमारी पूर्णता के लिये ही कर रहा है। और जो तू 'तुविमात्र' हुआ है, बहुत परिमाण वाला हुवा है वह भी अपने 'अवसों' से हुवा है, अपने रक्षण आदिओं को हमें पहुँचाने के लिये हुवा है। हमें तू सदा सर्वत्र अपनी रक्षा प्रदान कर सके इसीलिये मानो तूने अपने को अनन्त काल और अनन्त देश तक फैला दिया है। आह, तू किस तरह हम पुत्रों के हित के लिये प्रेमविह्वल होकर अनन्तकर्मा, अनन्तदानी, अनन्तधन और अनन्तपरिमाण हो रहा है! हे प्रभो! हम तेरे इन अगणित उपकारों का कभी कैसे बदला चुका सकते हैं, तेरी अनन्त कृपाओं मे हम अनन्त काल में भी कैसे उऋण हो सकते हैं?

शब्दार्थ—

(हि) निःसन्देह हम (त्वा) तुझे (अवोभिः) रक्षा, तृप्ति, दीप्ति, वृद्धि आदियों से (तुविकूर्मि) बहुत कर्मों वाला (तुविदेष्णं) बहुत दानी (तुविमघं) बहुत धन वाला तथा (तुविमात्रं) बहुत परिमाण वाला (विद्म) जानते हैं।

❀

❀ ❀

१६ फाल्गुन

एतो न्विन्द्रं स्तवाम ईशान वंस्वः स्वराजम्।
न राधसा मर्धिषन्नः ॥

ऋ० ८.८१.४॥

विनय

देखो, आज कल यह संसार धन के कारण नष्ट हुवा जा रहा है। लोग धन के पीछे पागल तो इसलिये हो रहे हैं, धन को इतनी बुरी तरह से कमा तो इसलिये रहे हैं कि इससे उन्हें जीवन मिलेगा किन्तु यह उन्हें मार रहा है। धन आजकल इतना मर्यादा को लांघ गया है कि वह 'स्व' होने की जगह हमारा स्वामी बन गया है; इसीलिये इस धन ने हमारी शारीरिक मानसिक और आत्मिक उन्नति को बिलकुल रोक दिया है। धन का जंग लगकर हमारा यह त्रिविध तेज जाता रहा है, भोग में पड़ कर हमारा त्रिविध वीर्य नष्ट हो गया है। इसलिये, हे मनुष्यो ! आओ, हम इस धन की मार से किसी तरह बचें। हे संसार भर के मनुष्यो ! आओ, हम उस अपने इन्द्र की स्तुति करें, उसके सामने झुकें, जो हमारा परम ऐश्वर्य वाला प्रभु है। यदि हम उस परमैश्वर्य वाले को न भूलेंगे, यदि हम अपने ऊपर उस 'ऐश्वर्यों के ईश्वर' के राज्य को देखेंगे, यदि हम उस स्वयंराजमान के, 'स्वराज्' के नियमों

में सदा चलेंगे तो ये धन हमें पागल नहीं कर सकेंगे, ये हमारे मालिक नहीं हो सकेंगे। हम पागल इसीलिये होते हैं क्योंकि हम अपने उस 'वस्वः ईशान' को भूल जाते हैं जो हमें जब जिस ऐश्वर्य की जरूरत होती है तब उसी ऐश्वर्य को हमें स्वयमेव दे रहा है; हम धन के गुलाम इसीलिये होते हैं क्योंकि हम स्वयंराजमान होने के स्थान पर धन से राजमान होना चाहते हैं, अपने 'स्व' पर—अपने शरीर इन्द्रिय आदि धन तथा बाह्य धन पर—राज्य करने की जगह उनके वशवर्त्ती हो जाते हैं। तभी यह होता है कि भौतिक धन तथा आध्यात्मिक ऐश्वर्य (विभूतियां, सिद्धियां) हमारे साधन होने की जगह हमारे लक्ष्य बन जाते हैं और हमारी उन्नति को रोक देते हैं। इसलिये आओ, भाइयो ! अब हम अपने ऐश्वर्यों के ईशान, 'स्वराट्' प्रभु का भजन करें; उस का भजन किये बिना कभी उसके धन का भोग न करें। अहा, क्या ही सुन्दर दृश्य होगा जब संसार भर के हम मनुष्य भाई मिलकर के उस अपने 'इन्द्र' प्रभु की स्तुति करेंगे और उसका पूजन करते हुवे ही इन धनों का भोग करेंगे और तब ये धन भी नौकरों की तरह हमारी सेवा करने वाले हो जायंगे, हमारी उन्नति कराने के लिये उचित साधन बन जायंगे !

शब्दार्थ—

हे मनुष्यो ! (एत उ) आओ, हम (नु) अब (वस्वः ईशानं) ऐश्वर्यों के ईश्वर (स्वराजं) स्वयं राजमान, स्वराट् (इन्द्रं) परमेश्वर की (स्तवाम) स्तुति करें, भजन करें, जिस से वह (नः) हमें (राधसा) धन द्वारा, सिद्धिओं के ऐश्वर्य द्वारा (न मर्धिषत्) न मार देवे, न मिटा देवे।

विश्वा हि मर्त्यत्वना अनुकामा शतक्रतो ।
अगन्म वज्रिन् आशसः ॥

ऋ० ८.९२.१३॥

विनय

हे शतक्रतो ! हम मर्त्य हैं, मरणशील मनुष्य हैं । यह स्वाभाविक है कि हमारे हृदय कामनाओं से भरे हुवे हों । यदि हम में कामनायें नहीं रहेंगी तो हम मर्त्य नहीं रहेंगे । मर्त्य से ऊपर कुछ वस्तु हो जायेंगे, अमर्त्य हो जायेंगे । सब मनुष्यपन कामनाओं के अनुगत हैं । जितने मर्त्यपन हैं वे कामनाओं के पीछे चलने के कारण हैं । हम नाना प्रकार की मृत्युओं के वश इसीलिये होते हैं, दुःख के गर्त्त में इसीलिये गिरते हैं, क्योंकि हम कामनाओं से घिरे होते हैं, इच्छाओं से सताये होते हैं । इसलिये हे इन्द्र ! तुम हमें किसी तरह कामनाओं से ऊपर उठाओ । परन्तु बड़ी मुश्किल यह है कि यदि हम इन कामनाओं को दबाते हैं तो ये दबती नहीं, अन्दर अन्दर से हमें खाने लगती हैं; और यदि हम इन्हें

तृप्त करते हैं तो ये और और बढ़ती हैं, जैसे घृताहुति को पाकर अग्नि और भड़कती है उसी तरह ये और और बढ़ती हैं। इसलिये, हे शतक्रतो ! हे प्रभूतसंकल्प ! हम तुम से प्रार्थना करते हैं, तुम ऐसी कृपा करो, कि हमारी ये कामनायें 'आशस्' के रूप में परिणत हो जायें। हे वज्रवाले ! तुम हमें ऐसी विवेक-शक्ति प्रदान करो कि हम अपनी सब क्षुद्र अनुचित कामनाओं को ज्ञानपूर्वक उन्मूलन कर सकें और इस तरह अपनी व्यापी और अच्छी इच्छाओं को, आशसों को पनपा सकें। यदि तुम ऐसी कृपा करोगे तो जहां हमारी सब दबाने योग्य बुरी इच्छायें निर्मूल हो जायेंगी वहां हमारी सब बढ़ाने योग्य अच्छी इच्छायें संकल्प रूप बन जायेंगी, शक्तिरूप हो जायेंगी। यही प्रकार है जिससे कि हम इन कामनाओं की साधना द्वारा मर्त्य से अमर्त्य हो जायेंगे और एक दिन तुम्हें पा जायेंगे। इसीलिये हे प्रभो ! हम तुम से विनती करते हैं कि तुम हमें कामनाओं से 'आशसों' को प्राप्त कराओ, हमारी विशाल और दृढ़ आशाओं को पूर्ण कराओ।

शब्दार्थ—

(शतक्रतो) हे प्रभूत संकल्प ! (विश्वा हि) सब ही (मर्त्यत्वना) मर्त्यत्व, मरणशीलतायें, मनुष्यपन (अनुकामा:) कामनाओं में अनुगत हैं, कामनाओं के कारण हैं। (वज्रिन्) हे वज्रवाले ! हम (आशसः) आशाओं को, दृढ़ विशाल इच्छाओं को (अगन्म) प्राप्त हों।

❀ ❀

❀

त्वयेदिन्द्र युजा वयं प्रति ब्रुवीमहि स्पृधः ।
त्वमस्माकं तव स्मसि ॥

ऋ० ८.९२.३२॥

विनय

हे जगदीश्वर ! इस स्पर्द्धामय जगत् में हमने तुम्हारा आंचल पकड़ लिया है । तुमसे जुड़े रहकर ही हम इस संसार में विजयी हो सकते हैं । लोग बेशक कहते हैं कि संसार में विजयी होने के लिये धन चाहिये, प्रचार चाहिये, सैन्य चाहियें, हथियार चाहियें; किन्तु हम तो देखते हैं कि ये सब तीर तोपें धरी रह जाती हैं यदि हम तुम से जुड़े नहीं रहते । सचाई, प्रेम आदि अविनश्वर सत्य नियम हैं जिनसे हम तुम से जुड़े हुवे हैं । यदि कभी हम इन तुम्हारे प्रेम बन्धनों को तोड़कर जुदा खड़े हो जाते हैं, किसी स्पर्द्धा में शीघ्र विजयी होने के लिये या किसी शत्रु को किसी न किसी तरह अवश्य पराजित करने के लिये यदि हम तुम्हारे इन प्रेम बन्धनों को भी तोड़कर तुम से जुदा हो जाते हैं तो हम कहीं के नहीं रहते, हम विनष्ट

हो जाते हैं। इसलिये हे इन्द्र! हम तो अब तुम्हारे सहाय से—केवल तुम्हारे ही साथ से—अपने प्रतिस्पर्धियों का मुक़ाबिला करना चाहते हैं, अपने शत्रुओं का प्रतीकार करना चाहते हैं। तुम हमें ऐसी शक्ति प्रदान करो कि हम बड़े से बड़ा प्रलोभन आने पर भी कभी तुम्हारे सत्य नियमों का उल्लंघन करने का विचार तक न कर सकें, और इस तरह तुम से कभी जुदा न हो सकें। ओह, हम तुमसे जुदा हो ही कैसे सकते हैं, तुम्हें छोड़ ही कैसे सकते हैं? तुम तो हमारे हो; और हम तुम्हारे हैं। तुम ही हमारे हो, और हम तुम्हारे ही हैं। तुम हमारे पिता हो, माता हो, स्वामी हो, सखा हो, गुरु हो, पति हो, सब कुछ हो। तुम हमारे क्या नहीं हो? इस लिये हम तो कहते हैं कि तुम हमारे हो, बस हमारे हो। और हम तुम्हारे हैं, तुम्हारे पुत्र हैं, दुलारे हैं, सेवक हैं, सखा हैं, शिष्य हैं, प्यारे हैं, जो भी कुछ हैं तुम्हारे हैं, हे प्रभो! तुम्हारे ही हैं। सचमुच; तुम ही हमारे हो और हम तुम्हारे ही हैं। तो हमें तुमसे कौन जुदा कर सकता है? हम तुम से कैसे जुदा हो सकते हैं?

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (त्वया इत्) तेरे ही (युजा) साथ से, जुड़े रहने से (वयं) हम (स्पृधः) स्पर्द्धा करनेवालों का, प्रतिद्वन्दिओं का (प्रतिब्रुवीमहि) प्रतीकार करें, मुक़ाबिला करें, जीतें। (त्वं) तू (अस्माकं) हमारा है और हम (तव) तेरे (स्मसि) हैं।

*

* *

त्वामिद्धि त्वायत्रो अनुनोनुवतश्चरान् ।
सखाय इन्द्र कारवः ॥

ऋ० ८.९२.३३॥

विनय

हे इन्द्र ! हम लोग, हम सब सखा लोग तेरी ही परिचर्या करें; हम सब 'कारु' सखा लोग सदा तेरा ही सेवन करें। जिनके हृदयों में तेरे भजन की इच्छा उत्पन्न हुई है, जिनको थोड़ी बहुत तेरी प्रीति प्राप्त हुई है ऐसे हम सब सखा लोग कारु होकर तेरा ही परिचरण करें, अपने एक एक आचरण द्वारा तेरा ही सेवन करें। तुझे चाहते हुवे, तुझे प्राप्त करना चाहते हुवे, तुझ तक पहुँच करना चाहते हुवे हम प्रेम में मस्त होकर तेरे ही स्तुति-गीत गावें, जगह जगह तेरी ही अलख जगावें। हम कारु होवें, तेरे स्तोता होवें और तेरे कर्म करने वाले स्तोता होवें। हम तेरे कोरे स्तोता न होवें,

केवल वाणी से तेरे स्तोत्र पाठ करने वाले न होवें, किन्तु हमारा एक एक कर्म ही तुम्हारी स्तुति-रूप होवे, हमारा एक एक कार्य ही मुखरित होकर तुम्हारी गुण गाथा कहने वाला होवे। ऐसे कारु होकर तेरा बहुत बहुत स्तवन करते हुवे, तेरे बार बार गुणगान गाते हुवे हम विचरें, संसार भर में विचरें। हम तेरे सखा लोग तेरा ऐसा भक्ति प्रचार करते हुवे एक के बाद एक अपने जीवनों को तेरी सेवा में लय करते जावें, तेरी सक्रिय सेवा में समर्पित करते जावें, और इस तरह इस संसार को ऊँचा ऊँचा उठाते जावें। आह! इस प्रकार हे इन्द्र! तेरा यह व्यापक क्रियामय भजन हम सखाओं द्वारा अनवरत चलता रहे, तेरी शक्तिमती भक्ति का प्रवाह इस संसार में निरन्तर बहता रहे, हे प्रभो! निरन्तर बहता रहे।

शब्दार्थ--

(इन्द्र) परमेश्वर! (त्वायवः) तुझे चाहते हुवे (कारवः) तेरी सक्रिय स्तुति करने वाले (सखायः) हम भक्त साथी लोग (अनु नोनुवतः) एक के बाद एक तेरी बहुत और बार बार स्तुति करते हुवे (त्वां इत् हि) केवल तुझे ही (चरान्) परिचर्या करें।

❀

❀ ❀

अभ्यादधामि समिधं अग्ने व्रतपते त्वयि ।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमि इन्धे त्वा दीक्षितो अहम् ॥

यजु० २०.२४॥

विनय

हे अग्ने ! हे व्रतपते ! मैं तुझमें अपनी समिधा को रखता हूँ । इस समिधा को रखता हुवा मैं व्रत और श्रद्धा को प्राप्त होता हूँ । इस तरह दीक्षित होकर मैं, हे अग्ने ! तुझे समिद्ध करता हूँ, तुझे प्रदीप्त करता हूँ ।

आचार्य अग्ने ! तुम स्वयं व्रतों का ठीक ठीक पालन करनेवाले हो और अतएव मुझे भी व्रतों का पालन करवा सकनेवाले हो। इसलिये हे व्रतपते ! तुम अग्नि में मैं अपने आप को समिधा बनाकर आहित करता हूँ, समिद्ध होने योग्य अपने आप को तुमसे समिद्ध होने के लिये तुममें समर्पित करता हूँ । इस तरह अपने आप को पूरी तरह तुम्हारे अधीन करके मैं व्रत और श्रद्धा को प्राप्त होता हूँ; सत्य पालन आदि शिष्य के व्रत को तथा सत्य की धारणा रूप, सत्य धारण कराने के लिये तुममें दृढ़ विश्वास रूप श्रद्धा को प्राप्त

होता हूँ। सत्य व्यवहार आदि व्रतों के पालन करने का दृढ़ निश्चय करके तथा सत्य में और तुममें अविचल श्रद्धा रखकर मैं आज से तुम्हें अपने आप को सर्वथा समर्पित करता हूँ। इस प्रकार तुमसे दीक्षित होकर, ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट होकर, तुम्हारा ब्रह्मचारी बनकर, हे ज्ञानमय अग्ने! मैं तुम्हें समिद्ध करता हूं, तुम्हें भी प्रदीप्त करता हूं। निःसंदेह, तुम पवित्र अग्नि में अपने आप को जलाकर जहां मैं प्रदीप्त होता हूं वहां मुझ जलती हुई समिधा को प्राप्त करके हे अग्ने! तुम भी अवश्य प्रदीप्त होते हो, जगत् में प्रकाशित होते हो।

हे परम आचार्य! परम अग्ने! हे पूर्णतया व्रत को पालन करने और करा सकनेवाले! मैं तुममें अपनी समिधा को पूर्णतया प्रदीप्त करने के लिये, संसार में जन्म पाने के अपने उद्देश्य को पूर्ण करने के लिये रखता हूँ। मैं अपने महान् व्रत को और तुममें अटल श्रद्धा को प्राप्त होता हूँ। इस तरह तुम्हारा बनकर हे परम अग्ने! मैं तुम्हें बढ़ाता हूँ, तुम्हारे परम तेज को प्रकाशित करता हूँ।

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे अग्ने! (व्रतपते) हे व्रतों के पालक! (त्वयि) तुझमें मैं (समिधं) समिधा को (अभि आ दधामि) रखता हूँ। (व्रतं च) व्रत को (श्रद्धां च) और श्रद्धा को (उपैमि) प्राप्त होता हूँ। (दीक्षितः) एवं दीक्षित होकर (अहं) मैं (त्वा) तुझे (इन्धे) प्रदीप्त करता हूँ।

*

* *

दूराच्चकमानाय प्रतिपाणाय अक्षये ।
आस्मा अशृण्वन्नाशाः कामेनाजनयन् स्वः ॥

अथर्व १९.५२.३॥

विनय

ओः ! आज मेरी सुनवाई हो गई है, मुझे मेरा 'प्रतिपालन' मिल गया है, मैं सुखी हो गया हूँ । दिशाओं ने मेरी प्रार्थना को सुन लिया है । न केवल सुन लिया है किन्तु संकल्प के कारण मुझे मेरा अभीष्ट प्राप्त कराकर मुझ में उसका सुख भी उत्पन्न कर दिया है । एक समय था जब मैं दूर से इसकी इच्छा करता था, बार बार कामना करता था । इस दूरस्थ विषय की, इस दुष्प्राप्य सी वस्तु की बार बार प्रार्थना करता था । उस समय लोग मुझ पर हंसते थे, मुझे पागल समझते थे । कहते थे 'यह असंभव है,' 'अभी इसका समय नहीं आया है' 'इस देश के लोगों को रक्षण अभी कैसे मिल सकता है' 'इस जन्म में तो यह होने वाला नहीं है' । परन्तु मेरी धारणा दृढ़ थी, मेरी इच्छा सच्ची थी । अतः मैंने इस प्रार्थना

को जारी रखा। मेरा हृदय प्रतिपालन, रक्षण पाने के लिये निरन्तर पुकार मचाता रहा। उस समय बेशक यही दीखता था कि मेरे हृदय से निकली ये सब पुकारें, ये सब प्रार्थनायें केवल इस शून्य आकाश में लीन हो जाती हैं, नष्ट हो जाती हैं बिलकुल बेकार जाती हैं। पर अब मैं देखता हूँ कि मेरी हृदय से निकलीं ये प्रार्थनायें प्रभु के अक्षय हृदय में, अक्षय अन्तरिक्ष हृदय में, ईश्वरीय मनोमय वायु मंडल में ठीक प्रकार से गृहीत होती थीं और वहां सुरक्षित रहती थीं। अब देखता हूँ कि मेरी एक बार की प्रार्थना भी व्यर्थ नहीं गयी है। उन्हीं का फल है कि एक वह समय भी आया जब कि दिशाओं ने इन्हें सुना, चारों दिशाओं के वासिओं में इसकी खूब चर्चा हुई। लोग इसे संभव, उचित और शीघ्र हो सकने वाली वस्तु समझने लगे। और आज तो यह 'प्रतिपालन' साक्षात् उपस्थित ही हो गया है और इस समय हमें सुखी कर रहा है। सचमुच, इस प्रभु की सृष्टि में कोई सच्चा और दृढ़ संकल्प ('काम') व्यर्थ नहीं जाता, कभी व्यर्थ नहीं जाता।

शब्दार्थ—

(दूरात्) दूर से, दूरस्थ विषय की (चकमानाय) बार बार कामना करते हुवे (अक्षये) अक्षय [ईश्वरीय हृदय] में (प्रतिपाणाय) प्रतिपालन के लिये, रक्षण के लिये, [पुकारते हुवे] (अस्मै) इसे मुझे (आशाः) दिशाओं ने (आ अशृण्वन्) सुन लिया है और (कामेन) संकल्प द्वारा (स्वः) उसके सुख को (अजनयन्) उत्पन्न कर दिया है।

❀

❀ ❀

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतां ऋषिष्टुताम् ।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिः देवानां अवसे हुवे ॥

अथर्व ६.१०८.२॥

विनय

मेधा के बिना मैं विनष्ट हुवा जा रहा हूँ। मैं बहुत कुछ पढ़ता हूँ, उत्तम उत्तम उपदेश सुनता हूँ परन्तु उन्हें धारण नहीं कर सकता। मेरे मानसिक देह की ऐसी अवस्था होरही है जैसे वमन या प्रवाहिका रोग से ग्रस्त पुरुष की होती है। मेरी ऐसी दयनीय दशा इसलिये होगई है क्यों कि मुझ में धारणावती बुद्धि या मेधा की कमी है। 'मेधा शक्ति' न होने के कारण, न केवल मेरी आगे की उन्नति रुक गई है किन्तु मुझ में जो विद्यमान 'देव' हैं, दिव्य शक्तियां हैं वे भी क्षीण होती जा रही हैं, ज्ञान-भोजन न मिलने के कारण विनष्ट होती जा रही हैं। इसलिये मैं अब मेधा का भिक्षुक हुवा हूँ। मैं आज मेधा-शक्ति का आह्वान कर रहा हूँ, अपनी दिव्य शक्तिओं

की रक्षा के लिये मेधा देवी को पुकार रहा हूँ। ओह, मेधा तो वह मुख्य सर्व-श्रेष्ठ शक्ति है जो कि 'ब्रह्मण्वती' है, ब्रह्म को, ज्ञान को, वेद ज्ञान को धारण करने वाली है;अतएव जो'ब्रह्मजूत' है, ज्ञानिओं, ब्रह्मज्ञानिओं, ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणों द्वारा सदा सेवित की गई है। मेधा के बिना तो वेदज्ञान भी नहीं मिल सकता, अतएव सब ज्ञानी लोग सदा इस मेधा का सेवन करते रहे हैं। 'मेधा' वह प्रशस्त शक्ति है जिसका ऋषिओं ने भी स्तवन किया है, जिसका साक्षात् दर्शन करनेवाले मुनिओं ने भी गुणगान किया है। और 'मेधा' वह अमृत है जिसका ब्रह्मचारी पान करते रहे हैं, जिसका पान कर तेजस्वी हुवे ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य-शक्ति की पूर्णता को प्राप्त करते रहे हैं, जिसका पान कर अमृत हुवे ब्रह्मचारी अपने अन्दर तीनों लोकों तथा सब देवों को धारण करते रहे हैं। उसी मेधा को मैं पुकार रहा हूँ, उसी दिव्य शक्ति का मैं अपने में आह्वान कर रहा हूँ। हे मेधे! तुम आओ, मेरे इन देवों को विनष्ट होने से बचाओ।

शब्दार्थ—

(अहं) मैं (प्रथमां) मुख्य, प्रथम (ब्रह्मण्वतीं) ज्ञान, वेद-ज्ञान रखनेवाली (ब्रह्मजूतां) ब्रह्मज्ञानिओं से सेवित (ऋषिष्टुतां) ऋषियों से स्तुति की गई (ब्रह्मचारिभिः प्रपीतां) ब्रह्मचारिओं द्वारा पान की गई (मेधां) मेधा शक्ति को (देवानां अवसे) अपनी दिव्य शक्तिओं की रक्षा के लिये (हुवे) आह्वान करता हूँ, पुकारता हूँ।

❀ ❀

❀

२३ फाल्गुन

महे नो अद्य बोधय, उषो राये दिवित्मती ।
यथा चिन्नो अबोधयः सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते ॥

ऋ० ५.७.९.१॥ सा० पू० ५.१.४.३॥ सा० उ० ८.३.११॥

विनय

हे उषः ! तू मुझे आज महान् ऐश्वर्य के लिये जगा । हे जगाने वाली देवि ! तू मुझे ऐसा जागृत कर कि मेरे लिये आज आत्मज्ञान का प्रकाश हो जावे, मुझे वह आत्मज्ञान मिल जावे जो सब ऐश्वर्यों का ऐश्वर्य है, जो बड़े से बड़ा दिव्य ऐश्वर्य है । तू तो 'दिवित्मती' है, दिव्य प्रकाश को रखने वाली देवी है । तू मुझे अपने इस सर्वश्रेष्ठ दिव्य प्रकाश को और कब प्राप्त करावेगी ? जिस तरह तू मुझे समय समय पर

जगाती रही है, मुझ में नये नये ज्ञान प्रकाश को चमकाती रही है, मुझे दिव्य उद्बोधनों से ठीक समय पर प्रबुद्ध करती रही है; उसी तरह तू आज हे सुजाते ! हे अश्वसूनृते ! तू आज मेरे इस 'सत्यश्रवा वाय्य' जीवन में उस अपनी परम ज्योति को भी जगमगा दे, उसे जगाकर मेरे इस जीवन को ही सफल कर दे। मेरा जीवन सत्य पर ही आश्रित है, सदा सत्यश्रवण के अनुसार चलने वाला 'सत्य श्रवा' है। इसलिये यह अवश्य तुझ द्वारा 'वाय्य' है, निरन्तर प्रापणीय है, अविच्छिन्नरूप से विस्तारणीय है। तू तो महान् व्यापक प्रिय-सत्यात्मिका वाणी है, तू महान् सत्य संकल्प-रूपा है। तो मैं अपने इस 'सत्य श्रवस्' जीवन के अविच्छिन्न विस्तार के लिये तुझ से प्रार्थना न करूँ तो किस से प्रार्थना करूँ ? इस लिये, हे अश्वसूनृते ! आज तो तू मुझे अपने उस परम सत्य को भी सुना दे। हे सुजाते ! हे सुन्दर प्रकाश के साथ जन्मने वाली ! हे उत्तम ज्ञान के साथ प्रकट होने वाली ! तू मेरे लिये और किस दिन सुजाता होवेगी ? देख, भौतिक धनों की तो मैं ने कभी चाहना ही नहीं की है, ऋद्धि सिद्धि के दिव्य ऐश्वर्यों की कामना को छोड़े हुवे भी मुझे बहुत समय हो गया है, तो अब तो मैं अवश्य तेरे इस परम ऐश्वर्य का अधिकारी बन चुका हूँगा। इसलिये हे उषः ! तू मुझे आज अवश्य जगा, मुझे अपने उस आत्मज्ञान के महान् ऐश्वर्य में जगा, जिसे प्राप्त कर सब महात्मा लोग मालामाल होते रहे हैं, जिस में जागकर सब मुक्तजीव निहाल होते रहे हैं। हे उषः ! तू मुझे आज ऐसा ही जगा, ऐसे ही निहाल करने वाले महान् धन के लिये जगा।

शब्दार्थ—

(उषः) हे उषः ! (दिवित्मती) दिव्य प्रकाशवाली तू (नः) हमें (अद्य) आज (महे राये) महान् ऐश्वर्य के लिये (बोधय) जगा। (यथाचित्) जिस प्रकार तू पहले (नः) हमें (अबोधयः) जगाती रही है उसी प्रकार (सुजाते) हे सुन्दर प्रकाश के साथ जन्मने वाली ! (अश्वसूनृते) हे महान् व्यापक प्रिय सत्यात्मिका वाणि ! तू आज मेरे इस (सत्यश्रवसि) सत्य ज्ञान वाले (वाय्ये) निरन्तर विस्तारणीय जीवन में [प्रकट हो]।

*

* *

२४ फाल्गुन

प्रजाभ्यः पुष्टिं विभजन्त आसते रयिमिव पृष्ठं प्रभवन्तमायते।
असिन्वन् दंष्ट्रैः पितुरत्ति भोजनं, यस्ता अकृणोः प्रथमं
सास्युक्थ्यः ॥

ऋ. २.१३.१४ ॥

विनय

हे प्रभो! हम देख रहे हैं कि जो लोग सच्चा यज्ञ कर रहे हैं वे, शुष्णासुर के वश होकर कभी अपनी ही पुष्टि में न लगकर, सदा सब ही प्रजाओं के लिये पुष्टि को बांट रहे हैं, विभजन कर रहे हैं। वे बैठे हुवे ऐसा यज्ञचक्र चला रहे हैं, संपत्ति की उत्पत्ति विनिमय व्यय आदि का ऐसे यज्ञिय प्रकार से संचालन कर रहे हैं कि उनके धन की पुष्टि प्रत्येक प्रजा-जन को पहुँच रही है, प्रत्येक मनुष्य को प्राप्त होरही है। अतएव उनके यहां अमीर ग़रीब के भयंकर भेद और उनके उपद्रव भी नहीं हो रहे हैं। वे तो अतिथियज्ञ के सिद्धान्त को अपने संपूर्ण राष्ट्र के लिये लगा रहे हैं। जैसे आये हुवे अतिथि के सम्मुख अपना सर्व श्रेष्ठ और बड़े से बड़ा ऐश्वर्य प्रस्तुत कर दिया जाता है, वैसे वे लोग धारक से धारक धन को, प्रभाव-

शाली से प्रभावशाली संपत्ति को समान भोग के लिये सब प्रजाओं में बांट देते हैं सब मनुष्यों को सुलभ कर देते हैं। इस प्रकार उनका वह राष्ट्र, हे इन्द्र! तुझ पिता से आये हुवे, सब के पालन के लिये तुझ से आये हुवे भोजन को ठीक प्रकार खाता है, भोग प्राप्त करता है। वह दंष्ट्रों से उसे न बांधता हुवा खाता है, भोगता है। यही कारण है जिससे वहां तुझ पिता का भोजन सब पुत्रों को पहुँचता है, प्राप्त होता है। यदि दंष्ट्र उस प्राप्त भोजन से अपनी ही पुष्टि करने के लिये उसे बांध लेवें, उसे मुख में ही रोक लेवें तो वास्तव में उन्हें भी उसकी पुष्टि न मिल सके। इसलिये सब की पुष्टि में अपनी पुष्टि समझने के कारण उस राष्ट्र में धनप्राप्ति का साधन बनने वाले लोग धन को, भोजन को, कभी बांधते नहीं हैं, किन्तु इस भोजन को सब को यथोचित रूप से पहुंचा देते हैं, और इस प्रकार प्रत्येक प्रजा-जन को अधिक से अधिक सुख प्राप्त कराते हैं। यह सब यज्ञ-सिद्धान्त की महिमा है, यज्ञ-सिद्धान्त पर आचरण करने का माहात्म्य है। पर नहीं, हे इन्द्र! इसके लिये हम तुम्हारी ही स्तुति करते हैं, चूँकि इस यज्ञ-सिद्धान्त के भी मूल में तो तुम हो, प्रथम यज्ञ करनेवाले यज्ञरूप तो तुम हो। सब से पहिले तुम ही 'अनश्नन्' होकर, सब संसार के लिये भोगों को, सब भोजनों को त्याग रहे हो, उनसे यज्ञ हवन कर रहे हो। यही कारण है कि तुम्हारे इस संसार में ऐसे यज्ञ-चक्र चलाने वाले महापुरुष भी समय-समय पर उत्पन्न होते रहते हैं जो यज्ञभावना का पुनरुद्धार कर संसार को सुखी करते रहते हैं। इसलिये, हे इन्द्र! वास्तव में तुम ही स्तुत्य हो, सर्व प्रथम तुम ही स्तुत्य हो।

शब्दार्थ—

(इव) जैसे (आयते) आये हुवे अतिथि के लिये (पृष्ठं) धारक (प्रभवन्तं) प्रभावशाली (रयिं) ऐश्वर्य को प्रस्तुत किया जाता है, वैसे सच्चे याज्ञिक लोग (पुष्टिं) पुष्टि को (प्रजाभ्यः) सब प्रजाओं के लिये (विभजन्तः) बांटते हुवे (आसते) बैठे हुवे यज्ञ कर रहे हैं। ऐसा राष्ट्र (पितुः) तुम पिता से आये हुवे (भोजनं) भोग को (दंष्ट्रैः असिन्वन्) दांतों से न बांधता हुवा (अत्ति) खाता है, भोगता है, (ता) उन भोजनों का (यः) जिस तूने (प्रथमं) सब से प्रथम (अकृणोः) यज्ञ किया है, हवन किया है (सः) वह तू (उक्थ्यः) स्तुत्य (असि) है।

❀

❀ ❀

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाच मक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मी र्निहिताधिवाचि ॥

ऋ० १०.७१.२॥

विनय

जैसे चलनी से छानकर सत्तुओं को साफ़ किया जाता है उसी तरह मन से, विचार मनन के साधन से, वाणी को शुद्ध और पवित्र किया जाता है। जो धीर पुरुष बड़ी साव-धानी से पवित्र हुई ही वाणी बोलते हैं, जो खूब सोच समझ कर, मन की चलनी से छान कर, कल्याणकारी और पवित्र शब्दों को ही मुख से निकालते हैं उन की वाणी में लक्ष्मी का निवास हो जाता है। किन्तु जैसे सत्तुओं का साफ़ करना कठिन काम है वैसे वाणी को शुद्ध पवित्र बनाना भी बहुत ही दुःसाध्य है। पर जो धैर्यशाली, प्रज्ञावान् मनुष्य मनन के साधन द्वारा वाणी को निर्दोष और निर्मल बनाने का यत्न

करते जाते हैं वे एक समय उस अवस्था को पहुँच जाते हैं जब कि उनकी वाणी अपनी अद्भुत शक्ति को प्रकट करने लगती है। उस अवस्था में पहुँच कर ये धीर लोग वाणी के ऐसे सखा हो जाते हैं, शब्द शक्ति से ऐसे घनिष्ठ सम्बन्ध में आ जाते हैं कि वे वाणी के सख्यों को, सब शब्दों के हृदयों और आत्माओं को, जानने लगते हैं; ये शब्द अर्थ के साहचर्य को, नित्य सम्बन्ध को साक्षात् अनुभव करने लगते हैं। उस समय उनकी वाणी में वह तेज आजाता है जिससे कि उनकी वाणी से निकले शब्द अर्थों को उपस्थित करने में समर्थ हो जाते हैं। सचमुच, उनकी वाणी में कल्याणी लक्ष्मी निहित हो जाती है, उनकी वाणी उनके लिये जब जिस ऐश्वर्य को चाहें तब उसे ही उपस्थित कर सकती है।

शब्दार्थ—

(यत्र) जिस अवस्था में (धीराः) धैर्यशाली ज्ञानी पुरुष (तित उना सक्तुंइव) जैसे चलनी द्वारा सत्तुओं को उस तरह (मनसा) मन द्वारा, मनन द्वारा (पुनन्तः) पवित्र करते हुवे (वाचं) वाणी को (अक्रत) करते हैं, बोलते हैं, (अत्र) उस अवस्था में (सखायः) वाणी के सखा हुवे हुवे ये लोग (सख्यानि) उनके सख्यों को, हृदयों को (जानते) अनुभव करते हैं, तब (एषां) इन लोगों की (अधि-वाचि) वाणी में (भद्रालक्ष्मीः) कल्याणी लक्ष्मी (निहिता) निहित होती है, रक्खी होती है।

❀

❀ ❀

२६ फाल्गुन

महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम् ।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥

ऋ० ८.१.५॥ सा० पू० ३.१०.९॥

विनय

हे इन्द्र ! मैं तुझे कभी न बेचूँ, किसी भाव न बेचूँ। चाहे कोई मुझे हजार देवे, लाख देवे, करोड़ देवे, इस पृथ्वी को सुवर्ण और रत्नों से भर कर देवे तो भी मैं उसके बदले में कभी तुझ न देऊँ, कभी तुझे न छोड़ूँ । हे अद्रिवः ! हे संसार-वृत्र के वश करनेवाले ? अपने सब ऐश्वर्यों सहित यह संपूर्ण संसार तो तेरे चरणरज के एक कण की भी बराबरी नहीं कर सकता । तो हे शतामघ ! हे अनन्त ऐश्वर्य वाले ! इस संसार का वह कौन सा ऐश्वर्य है, वह कौन सा भोग है जिसे पाने के लिये मैं तुझे दे दूँ, मैं तुझे छोड़ दूँ ? हे शतामघ ! हमारी वाणी तेरे परम परम ऐश्वर्य को क्या जान सकती है ? तेरे मूल्य को क्या बोल सकती है ? बस, तू तो हे मेरे इन्द्र ! अनमोल है, अनमोल है। और ऐसा अनमोल तू संसार के सभी प्राणियों को प्राप्त हुवा हुवा है, सभी जीवों के अन्दर आया हुवा है । पर हा ! ये सोये हुवे जीव तुझे नहीं देखते, तेरे मूल्य को नहीं पहिचानते । ये नादान लोग तो जरा जरा

से लोभ से या ज़रा ज़रा से डर से रोज़ तुझे त्यागते हैं, रोज़ तुझे बेचते हैं। ये लोग केवल अपने अभ्यस्त आराम न मिलने के डर से या 'रोजी' छिन जाने जैसे क्षुद्र भय से ही तुझे छोड़ देते हैं, सत्य को त्यागते हुवे न्याय आदि सत्य नियमों का उल्लंघन करते हुवे तुझे छोड़ देते हैं। ये लोग धन प्राप्ति के प्रलोभन से, कुछ सांसारिक सुख मिलने के लालच में तुझे बेच देते हैं, असत्य अन्याय को स्वीकार कर तुझे बेच देते हैं। परन्तु वे अज्ञानी तुझे समझते नहीं, हे वज्रवाले ! तेरी क़ीमत को जानते नहीं। पर तुझ अनमोल रत्न को पाकर अब मैं कैसे कभी तुझे गवां सकता हूँ ? तुझे पाकर मैंने तो सब कुछ पा लिया है। मुझे तो कोई वस्तु नहीं दीखती जिसे पाने के लिये अब मैं तुझे किसी को दे सकूँ। मैं तो अब भयंकर से भयंकर भय उपस्थित हो जाने पर भी और मोहक से मोहक प्रलोभन के आजाने पर भी तुझे कभी नहीं छोड़ सकता। मैं संसार के सब भोगों को छोड़ दूंगा, मैं असंख्यों मृत्युओं को सह लूंगा, पर मैंने तुझे ऐसा जान लिया है ऐसा पहिचान लिया है कि मैं अब तेरे त्यागने की बात भी नहीं सोच सकता, मैं तुझे छोड़ने का अर्थ ही नहीं समझ सकता।

शब्दार्थ—

(अद्रिवः) हे संसार के वश करने वाले ! मैं **(त्वां)** तुझे **(महे)** बड़े से बड़े **(शुल्काय)** मूल्य से **(चन)** भी नहीं **(परादेयां)** बेचूँ, दे डालूँ। **(शतामघ)** हे अनन्त ऐश्वर्य वाले ! **(वज्रिवः)** हे वज्र वाले ! **(न सहस्राय)** न सहस्र के बदले में **(न अयुताय)** न लाख करोड़ के बदले में और **(न शताय)** न अनगिनत राशि के बदले में मैं तुझे देऊँ, छोड़ूँ।

२७ फाल्गुन

उत स्वया तन्वा संवदे तत् कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभि ख्यम्
ऋ० ७.८६.२॥

विनय

अब मुझे वरुण प्रभु का दर्शन हुवे बिना चैन नहीं मिल सकता। मैं तो अब उस पाप-निवारक देव को साक्षात् देख लेना चाहता हूँ। सोते जागते उठते बैठते मेरा मन उधर ही गया रहता है। खाते हुवे, पीते हुवे, चलते हुवे, फिरते हुवे, मुझ में उसी के विषय में नाना प्रकार के विचार-वितर्क उठते रहते हैं। मैं अपने ही शरीर के साथ अपने ही आप में उस वरुण के विषय में वार्तालाप करने लगता हूँ। अब कब मैं उस प्रभु के ध्यान में निमग्न हो सकूँगा? क्या कभी मैं उस वरुण के अन्दर हो सकूँगा? उस वरुण के महान् आश्रय को पाकर क्या कभी मैं उसी के आधार से प्राण धारण करता हुवा

निरन्तर उसी में रम सकूँगा ? मैं तो उस के दर्शन पाने के लिये अपना सर्वस्व स्वाहा करने के लिये तय्यार हूँ, अपनी बड़ी से बड़ी भेंट चढ़ाने को उद्यत हूँ। पर न जाने वह मेरे इस हव्य को स्वीकार भी करेगा या नहीं ? कहीं वह इसे अयोग्य, अमेध्य तो नहीं समझेगा ? कहीं वह इस क्षुद्र भेंट से अप्रसन्न तो नहीं हो जायगा ? क्या वह सचमुच मेरे इस समर्पण को अक्रुद्ध, प्रसन्न होता हुवा सेवन करेगा ? ओह ! न जाने मेरे लिये भी क्या कभी वह सुदिन होवेगा, जिस दिन प्रभु दर्शन से मैं अपने जीवन को सफल कर सकूँगा ? मेरे परम आनन्द का वह दिन, मुझे 'सुमनाः' कर देने वाला वह दिन कभी आवेगा जब कि मैं उस परम सुखकारी अपने आनन्दरूप वरुण का प्रत्यक्ष दर्शन कर सकूँगा, आमने सामने होकर उसका साक्षात् कर सकूँगा ?

शब्दार्थ—

(उत) और मैं (तत्) उस वरुण के विषय में (स्वया तन्वा) अपने शरीर के साथ, अपने आप में ही (संवदे) वार्त्तालाप करने लगता हूँ, (कदा नु) अब कब मैं (वरुणे अन्तः) वरुण के अन्दर (भुवानि) होऊँगा ? (किम्) क्या (अहृणानः) अक्रुद्ध, प्रसन्न होता हुवा वह (मे) मेरे (हव्यं) हवि का, भेंट का (जुषेत) सेवन करेगा ? (कदा) कब (सुमनाः) सुमना होकर मै (मृडीकं) उस सुखकारी वरुण को (अभिख्यं) देखूँगा, साक्षात् दर्शन करूँगा ?

*

* *

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वा प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्य, आत्मनात्मानमभि सं विवेश ॥

यजु० ३२.११॥

विनय

यह जीव भटकता है, खूब भटकता है, अपने प्रभु को पाने से पहिले जगह जगह भटकता है । जब तक कि इसे सब संसार की निःसारता का, अन्य सब वस्तुओं की निस्सारता का, पूरा अनुभव न हो जाय तब तक यह जीव कैसे उस सारभूत परमसार परमेश्वर की शरण पकड़ सकता है ? इसीलिये यह सब भूतों में, सब प्राणियों में, नाना प्रकार की अनगिनत योनिओं में घूमता है; यह सब लोकों, ऊपर नीचे मध्य के अच्छे बुरे लोकों में फिरता है, अच्छे बुरे अनुभव पाता हुवा फिरता है । सुख की चाह में, शान्ति की तलाश में यह सब दिशाओं में मारा मारा घूमता है, सब उपदिशाओं में, कोने कोने में, खोजता हुवा भटकता है । अन्त में जब उसे निश्चय

हो जाता है कि ये सब अनात्म वस्तुएँ हैं इनमें उसे कुछ नहीं मिल सकता, जब उसे इन से सच्चा ज्ञान-युक्त वैराग्य हो जाता है, इनमें कुछ भी आकर्षण नहीं रहता, तभी वह इनसे मुख मोड़कर अपने परमात्मा के प्रति अभिमुख होता है, भोग के मार्ग को छोड़कर अपवर्ग का यात्री बनता है। इस यात्रा में उसे उस सत्य-स्वरूप 'ऋत' से सबसे पहिले उपजी हुई, अतएव उसकी सबसे नजदीकी, जिस शक्ति का अनुभव होता है—उसे बुद्धि कहो, 'महत्-तत्व' कहो, ब्रह्म-वाणी कहो या शक्ति ही कहो—उस 'ऋतस्य प्रथमजा' का आश्रय ग्रहण करता है, अच्छी तरह सेवन करता है। उसके उपस्थान से, संसेवन से उसका आत्मा जागृत हो जाता है, वह आत्मा हो जाता है, अपने स्वरूप को पा जाता है। इसी आत्मा द्वारा तब वह अपने आत्मा को, परम आत्मा को, संप्राप्त कर लेता है; उस में संप्रविष्ट हो जाता है, सम्मुखतया अवस्थित हो जाता है।

शब्दार्थ —

(**भूतानि**) प्राणिओं में, योनियो में (**परीत्य**) घूम कर (**लोकान्**) नाना लोकों में (**परीत्य**) घूम कर (**सर्वाः**) सब (**दिशः**) दिशाओं (**प्रदिशः च**) और विदिशाओं में (**परीत्य**) घूमकर (**ऋतस्य**) सत्य स्वरूप की (**प्रथमजां**) प्रथमोत्पन्ना शक्ति का (**उपस्थाय**) आश्रयण, संसेवन करके (**आत्मना**) आत्मा द्वारा (**आत्मानं**) अपने आत्मा को (**अभि संविवेश**) संमुखतया संप्राप्त हो जाता है।

*

* *

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

यजु ३१.१८.

विनय

मैं उस पुरुष को, उस महान् पुरुष को जानता हूँ जो कि सब संसार में परिपूर्ण होरहा है, जो इतना महान् है कि ये सब चराचर सृष्टियां और ये सब ब्रह्माण्ड उसके एक अंश में स्थित हैं। वह परिपूर्ण पुरुष है, वह सब तरह महान् है। मैं उसे देख रहा हूँ, अनुभव कर रहा हूँ। वह अपने प्रकाश स्वरूप में, अपने उज्ज्वल ज्योतिर्मय रूप में सदा सर्वत्र परिपूर्ण होरहा है, सदा सर्वत्र भासित होरहा है। वह तम से सर्वथा परे है, अज्ञान-अन्धकार उस विशुद्ध ज्योति को, उस पवित्र प्रकाश को छू तक नहीं सकते। इस संसार में यदि किसी वस्तु से उसके स्वरूप के प्रति निर्देश किया जा सकता है तो इस जाज्वल्यमान आदित्य को देखलो। वह आदित्य-वर्ण है, प्रचण्ड उज्ज्वल स्वयं प्रकाशरूप है। हे मनुष्यो! तुम उसे

देखो, उसे जानो। उसे ही जानकर मनुष्य मृत्यु को अतिक्रमण कर सकता है। हे मृत्यु से मारे हुवे मर्त्यो! हे नाना क्लेशों से सताये हुवे संसारिओ! तुम उसे क्यों नहीं देखते? उसे देख लेने पर तो, संसार के अन्य क्लेश तो क्या, यह मृत्यु का महा क्लेश भी मिट जाता है। उसे देखकर मनुष्य अमर और अभय होजाता है। इसलिये यदि तुम सब दुःख भयों मे पार होना चाहते हो, इन क्लेश बन्धनों से छुटकारा पाना चाहते हो तो तुम उस व्यापक प्रभु को जानो, उस आदित्य-वर्ण को पहिचानो। सुख शान्ति की अभीष्ट स्थिति में पहुँचने के लिये, छुटकारे का महान् सुख प्राप्त करने के लिये, अपने परम अयन को पाने के लिये उस प्रभु को जानने के सिवाय और कोई रास्ता नहीं है, उस पूर्ण पुरुष को देख लेने के सिवाय और कोई मार्ग नहीं है।

शब्दार्थ—

(अहं) मैं (एतं) इस (महान्तं) बड़े महान् (पुरुषं) व्यापक परिपूर्ण पुरुष [परमेश्वर] को (आदित्यवर्णं) आदित्य जैसे स्वयं प्रकाश स्वरूप वाला (तमसः परस्तात्) और अज्ञान अन्धकार से बिलकुल परे (वेद) जानता हूँ, देख रहा हूँ। (तं एव) उस को ही (विदित्वा) जान कर मनुष्य (मृत्युं) मृत्यु को (अति एति) अतिक्रमण करता है, (अयनाय) अभीष्ट स्थान तक पहुँचने के लिये, परमपद पाने के लिए (अन्यः) और कोई (पन्थाः) मार्ग (न) नहीं (विद्यते) है।

❀

❀ ❀

द्यौः शान्ति रन्तरिक्ष ँ शान्तिः पृथिवी शान्ति रापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्ति र्विश्वेदेवा शान्ति र्ब्रह्म शान्तिः सर्व ँ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥

यजु ३६. १७।

विनय

हे प्रभो! तीनों ही लोक हमारे लिये शान्ति देनेवाले होवें। वह ऊपर का प्रकाशमय आध्यात्मिक द्युलोक, मध्य का मनोमय अन्तरिक्ष लोक तथा यह स्थूल अन्नमय पार्थिव-लोक हमें शान्ति प्रदान करे। हमें आत्मिक, मानसिक और शारीरिक शान्ति प्राप्त होवे। और फिर यह पार्थिवलोक भी हमें अपने तीनों रूपों में शान्ति प्रदान करे। ये सब आप, ये सब रस, ये सब प्राण इस लोक के दिव्य रूप के लिये शान्तिदायक होवें। ये सोमादि ओषधियां रोगों को शमन करती हुई हृदय को, मध्य भाग को, शान्ति देनेवाली होवें। और ये सब भोज्य वनस्पतियां हमारे शरीर के पार्थिव भाग का ठीक तरह पोषण करने वाली होवें। इस प्रकार तीनों लोकों के देव, तीनों लोकों के अन्दर फिर जो और तीन लोक

हैं उनके भी सब देव, सब के सब देव हमारे लिये शान्तिदायक होवें। सब ज्ञानमय देव और उनका ज्ञान, सब ज्ञान, वेदज्ञान, पर ब्रह्म हमें शान्ति देनेवाला होवे। इस प्रकार यह सभी 'ब्रह्म' ब्रह्माण्ड, यह सभी संसार, इस संसार का सब कुछ हमें सदा शान्ति प्रदान करता रहे। परन्तु यह शान्ति भी वास्तव में शान्ति ही होवे। यह झूठी या बनावटी शान्ति न होवे। निर्जीवता में जो 'शान्ति' दिखाई देती है वह मुर्दा शान्ति हमें नहीं चाहिये; और अशान्ति को छिपाने के लिये जो दिखावटी शान्ति बनाई जाती है वह झूठी शान्ति भी हमें नहीं चाहिये। हमें तो वही असली शान्ति चाहिये जो सच्ची शान्ति होवे और जीवित शान्ति होवे। इसलिये हे प्रभो! तुम हमें सदा ऐसी ही शान्ति प्राप्त कराओ, ऐसी ही सच्ची और जीवित शान्ति प्राप्त कराओ।

शब्दार्थ—

(द्यौः) द्युलोक (शान्तिः) शान्ति दे, (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष (शान्तिः) शान्ति दे, (पृथिवी) पार्थिवलोक (शान्तिः) शान्ति दे, (आपः) जल, प्राण (शान्तिः) शान्ति देव, (ओषधयः) रोगनाशक ओषधियां (शान्तिः) शान्ति देवें, (वनस्पतयः) भोज्य वनस्पतियां (शान्तिः) शान्ति देवें, (विश्वेदेवाः) सब के सब देव (शान्तिः) शान्तिदायक होवें, (ब्रह्म) ज्ञान (शान्तिः) शान्ति देवे, (सर्वं) सभी कुछ (शान्तिः) शान्ति देवे, (शान्तिः) शान्ति भी (शान्तिः एव) सचमुच शान्ति ही होवे, (सा) वह, ऐसी (शान्तिः) शान्ति (मा) मुझे (एधि) प्राप्त होवे।

अधिक फाल्गुन

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन् साकं त्रिशता न शंकवो अर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥

ऋ० १.१६४.४८॥ अथर्व० १०.८.४॥

विनय

देखो, यह एक चक्र निरन्तर घूम रहा है, चक्कर लगा रहा है, इसमें बारह प्रधियां, बारह अरे लगे हुवे हैं। इसमें तीन नभ्य, नाभि को जोड़ने वाली तीन धुरियां जुड़ी हुई हैं। और इसमें, ठुके हुवे कीलकों की तरह, तीन सौ और साठ चलाचल 'अहोरात्र' अर्पित हुवे हुवे, डले हुवे हैं। क्या तुम समझे कि यह कौन सा चक्र है? फिर फिर घूम कर आने वाला यह कैसा चक्र है? इतना तो स्पष्ट है कि यह उस सदा चलते हुवे संवत्सर चक्र का वर्णन है जिस में बारह महीने, बारह अरों की तरह, बार बार घूम कर आ रहे हैं, जिसमें तीन 'चातुर्मास', गर्मी, वर्षा और सर्दी के तीन ऋतुकाल एक के बाद एक आते जा रहे हैं, जिसमें तीन सौ साठ दिन रात निरन्तर आते हुवे अपना चलाचल कर रहे हैं। पर वास्तव
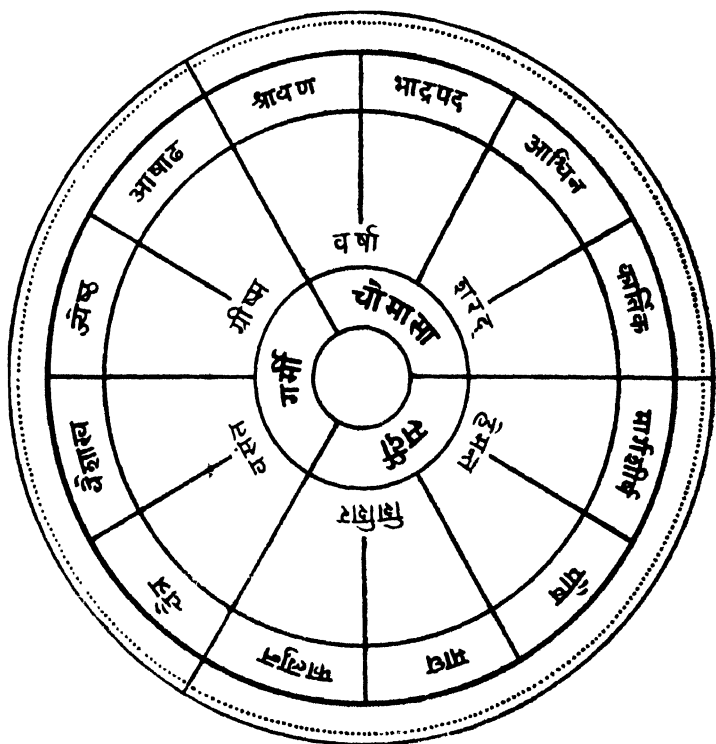
द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत ।
तस्मिन् साकं त्रिशता न शंकवो अर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥

में इस एक चक्र को तत्वतः कौन समझता है ? यह 'काल-चक्र' किसलिये निरन्तर घूम रहा है ? इस चक्र पर चढ़ा हुवा यह समस्त संसार कहाँ पहुँचना चाह रहा है ? इस चक्र के इन रहस्यों को हम में से कौन जानता है ? इसलिये आओ ! हम इस चक्र के चलाने वाले कालदेव को जानें, इस चक्र के प्रवर्त्तक अपने प्रभु को पहिचानें। वर्ष के ये तीन सौ साठ अहोरात्र इसी प्रयोजन के लिये प्रतिदिन हमारे पास आ रहे हैं, ये चैत्र वैशाख आदि महीने इसीलिये हमारे जीवन में चक्कर लगा रहे हैं, ये तीनों ऋतु-युगल इसीलिये बार बार हमें अपना अनुभव करा रहे हैं। तो, आओ ! अब से हम आने वाले इन तीनों वर्ष-खंडों का ऐसी ही उच्च भावना से स्वागत करें, अपने प्रत्येक महीने में इसी पवित्र लक्ष्य से प्रवेश करें और अपने प्रत्येक अहोरात्र को इसी प्रकार से व्यतीत करें जिससे हम उस 'एक' को जान सकें, उस परम प्रभु को पहुँच सकें ?

शब्दार्थ—

(एकं) एक (चक्रं) चक्र है, जिसमें (द्वादश) बारह (प्रधयः) अरे हैं, (त्रीणि) तीन (नभ्यानि) नाभिस्थान हैं। (तस्मिन्) उस चक्र में (साकं) साथ ही (शंकवो न) कीलकों की तरह (त्रिशता षष्टिर्न) तीन सौ और साठ (चलाचलासः) चल और अचल, दिन और रात, चलते जाने वाले अहोरात्र (अर्पिताः) अर्पित हैं, पड़े हुये हैं। (कः उ) कौन है जो (तत्) उस एक चक्र के रहस्य को (चिकेत) समझता है ?

❀

❀ ❀

अन्दर देखो

प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतो मुखः

यजु० ३२.४॥

हे मनुष्यो ! वह सब तरफ़

मुँह वाला (अन्तरात्मा)

प्रत्येक मनुष्य के

सामने मुँह किये

खड़ा

है

अनुक्रमणिका

लेखक की अन्य पुस्तकें

तरंगित हृदय

इसमें 'अभय' जी द्वारा स्वतंत्र लिखे २१ निबन्ध हैं जिन्हें पढ़कर आपका हृदय आनन्ददायक और शुद्ध उदात्त भावों की तरंगों से नहा जायगा। कई लोग इसका नित्य स्वाधाय करते हैं। मराठी और गुजराती में भी अनुवाद हुवे हैं। मू०॥)

मिलने का पता—सस्ता साहित्य मंडल अजमेर।

वैदिक उपदेशमाला

बारह महीनों के लिये बारह वैदिक उपदेश पढ़िये और जीवन उन्नत कीजिये। मूल्य ॥)

मिलने का पता—गुरुकुल कांगड़ी, जिला सहारनपुर।

यज्ञ संस्था (द्वितीय भाग)

यज्ञ की यह व्याख्या अद्वितीय है। यज्ञ का सच्चा आशय पा लेना चाहने वालों को इसे बिना पढ़े नहीं रहना चाहिये मू० १)

मिलने का पता—स्वाध्यायमंडल, औंध, जिला सातारा।

ब्राह्मण की गौ

राष्ट्रीय जागृति के इन दिनों में इस वैदिक सूक्त की व्याख्या एक बार प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य पढ़ लेनी चाहिये। (इस का भी कई प्रान्तीय भाषाओं में अनुवाद हो चुका है) मू०॥)

इसकी द्वितीय आवृत्ति छप रही है।

मिलने का पता—गुरुकुल कांगड़ी जिला सहारनपुर।

त्याग की भावना

[ले०—श्री पं० धर्मदेवजी वेदवाचस्पति]

इसका विषय नाम से स्पष्ट है । लेखक ने बड़ी योग्यता से इस विषय को प्रतिपादित किया है । इसमें दो वैदिक सूक्तों की व्याख्या की गई है । मूल्य केवल ॥)

आचार्य रामदेव जी कृत

भारतवर्ष का इतिहास

इसकी उपादेयता आर्य जगत् में प्रसिद्ध हो चुकी है । प्रथम खंड मू० १॥) द्वितीय खंड मू० १॥) तृतीय खंड मू० १॥)

योगेश्वर कृष्ण

श्री पं० चमूपति जी की लेखनी से यह नयी पुस्तक लिखी गयी है। कृष्ण भगवान् की सच्ची जीवनी इस पुस्तक में पढ़िये ।

इण्डियन प्रेस, प्रयाग से बड़ी सुन्दर छपी इस सजिल्द पुस्तक का मूल्य २) है ।

मिलने का पता—

गुरुकुल-पुस्तक-भण्डार

गुरुकुल कांगड़ी

(सहारनपुर)